

दर्शाईमं विवेचन

★ लेखिका ★

पूज्य गणिनी आर्थिका १०५ श्री सुपाश्वरमती माताजी

★ सम्पादक ★

बा.ब्र. डॉ. प्रमिला जैन

★ अर्थ सहयोग ★

श्री हुक्मचन्द, धर्मचन्द, जितेन्द्र कुमार बड़जात्या
कलकत्ता

स्वर्णिम अमृत महोत्सव की भेट

ग्रन्थ : दशाधर्म विवेचन

संस्करण : तृतीय संस्करण प्रतियाँ ९०००

प्रकाशन तिथि : भाद्र पद शुक्ला - ६ वीर निवार्ण
संवत् २५३३ सन् २००४

प्राप्ति स्थान : चुणीवाल कृषि फार्म हाउस, बड़का बालाजी
अजमेर रोड, जयपुर (राजस्थान)

मुद्रक : चौथरी ऑफसेट प्रा. लि., उदयपुर (राज.)
फोन - ०२९४-२५८४०७१, २४८५७८४

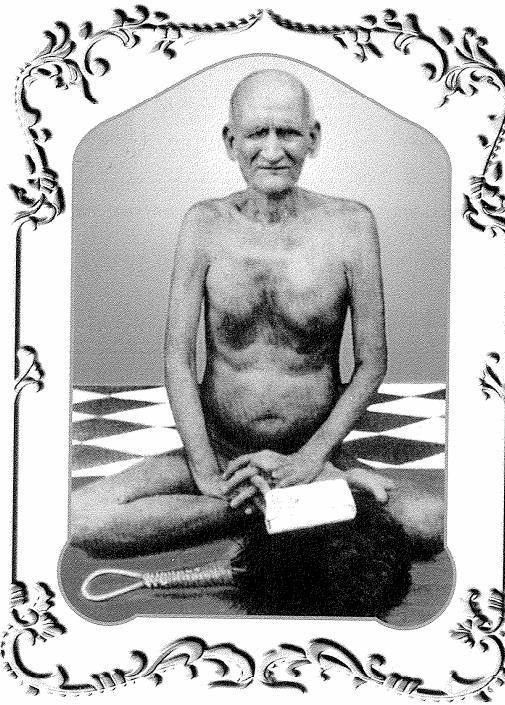
श्री हुक्मचन्द एवं बड़जात्या परिवार का
धन्यवाद देते हुए आभार मानते हैं
जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में
अर्थ सहयोग देकर
ज्ञान प्रचार का कार्य किया।

समर्पण

श्रुत की सतत् समुपासिका,
निर्दोष निष्काम स्वाध्याय साधिका
आगमोक्तचर्या की अनुरागिका
सतत् सत् साहित्य सृजनिका
आर्यिका श्री 105 सुपार्श्वमति माताजी के
संयमयात्रा के 50 वें स्वर्णिम अमृत
महोत्सव पर सादर समर्पित
उन्हीं की तपः पूत लेखनी से निःसृत
यह श्रुतसार अमृत

- चरणानुरागिनी
प्रमिला

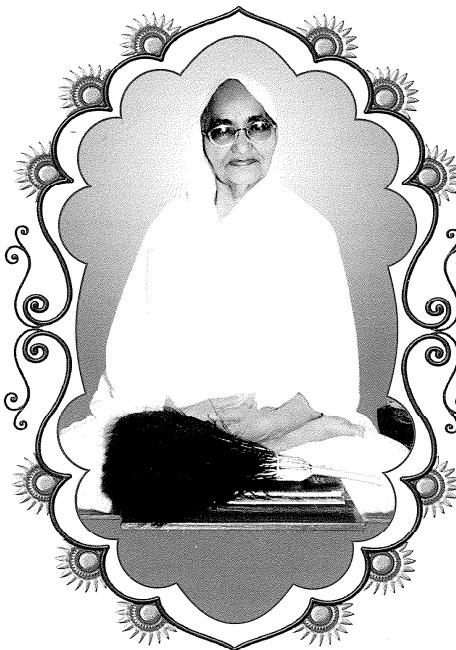
अनुवादकर्ता आर्यिकाश्री के दीक्षागुरु



परम पूज्य (स्व.) आचार्यश्री वीरशांगर जी महाशज

स्वादमैकनिष्ठ नृसुरादिपूज्यं, षड्जीवकायेषु दयाद्विचितं।
श्रीवीरसिन्धु भववाधिपोतं, तं सूरिवर्यं प्रणमामि भक्त्या ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ की अनुवादिका



● ● आर्यिका सुपाश्वर्मतीजी ● ●

जन्म
वि.सं. ३६८५
मैनसर-नानोर (राज.)

आर्यिका दीक्षा
वि.सं. ४०४४
सालिया, अमरपुर (राज.)

परिवार पद
वि.सं. २०५३
कानकी (बिलार)

प्रस्तावना

अतीत की विप्रवटी जब सामने से गुजरती है, तब एकाएक बीते हुए समय की अवस्था की व उन तीर्थों, आचारों, ऋषियों, मुनियों, साधिव्यों की याद आ जाती है जिन्होंने तत्कालीन जनता को सन्मार्ग दिखाया।

आजकल दुर्लियाँ के मानव प्राणी सुख शान्ति का मार्ग ऐसा मानते हैं कि पञ्चेन्द्रिय सुख की पूर्ति मन के अनुकूल होना ही आत्म सुख है अन्यथा नहीं। ऐसे ही इस कलिकाल के मानव प्राणी मान बैठे हैं। संसार में जितने मानव हैं उतने ही धर्म हैं, जिन्होंने माने हुए धर्म को धर्म मानकर स्वर्ग और मोक्ष मान बैठे हैं परन्तु असली धर्म का स्वरूप क्या है, आज तक गूढ़ रूप से छात बैठ कर असली धर्म को अभी तक समझ नहीं सके।

धर्म का क्षेत्र ज्ञान-साक्षात्कार का क्षेत्र है और वैज्ञानिक विचार भारा में ज्ञान का स्वरूप सापेक्ष माना गया है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि धर्म और विज्ञान मानवीय ज्ञान के दो महत्वपूर्ण पक्ष होने के नाते उनका सम्बन्ध मानवीय वित्तना के क्रमिक विकास से सम्बन्धित है। पुराण का सम्बन्ध भी धार्मिक मनोभाव के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। पुराण और धर्म का एक तात्त्विक सम्बन्ध है क्योंकि दानों अनुभव की आधार शिला को लेकर ही विकसित हुए हैं। हवेंट स्पैन्सर का कथन है कि धार्मिक विचार मानवीय अनुभव से प्राप्त किए गये हैं जो क्रमशः संगठित और वरिष्ठित होकर प्रतीकात्मक रूप में स्थिर हो गये। धार्मिक विचार अनुभव की परिधि को स्पर्श करते हैं, वे तत्त्व-चित्तन की भाव भूमि को छूते हैं।

संसार के सभी धर्मों में उपासना का कोई न कोई रूप अवश्य प्राप्त होता है। और यह उपासना धर्म की भारणा का एक आवश्यक अंग है यहाँ पर इस

तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि जिस प्रकार सौंदर्य, कला की वृपैती नहीं, उसी प्रकार उपासना का सम्बन्ध केवल धर्म से नहीं जोड़ा जा सकता।

धर्म अत्यन्त विशाल व विस्तृत विषय है वह परिभाषाओं की सीमाओं में सिमटने वाला नहीं वह अनुभूति का विषय है। विश्व की प्रत्येक वर्तु का अपना एक धर्म है चाहे जेतन सत्ता ही या अचेतन सत्ता, सब अपने अपने धर्म से अनुप्राप्ति हैं। अब: धर्म की परिभाषा जेतन अचेतन सभी के समर्थन में पूर्ण होनी चाहिये। आचार्यों ने अपने अनुभव चिन्तन मनन के आधार पर कहा 'वस्तु सहावा धर्मो, वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।'

प्राणी का स्वभाव विविध रूप है हमारे तीर्थकरों ने, आचार्यों ने, विद्वानों ने प्राणी मात्र को अपने स्वभाव में स्थिति करने हेतु स्वभाव को अत्यन्त सहज वा सरल रूप में समझाया है उन्होंने जीव को लक्ष्य करके स्वभाव के, धर्म के लक्षण समझाए हैं, जिससे वह सहज रूप में उन्हें समझें और विभाव से स्वभाव की ओर प्रवृत्त हो सके। उन्होंने आत्म धर्म के दश लक्षण समझाए हैं जो क्षमा, मादव, आर्जन, शान्त, सत्य, संयम, तप, स्वगम, आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्य हैं। ऐ धर्म के दश गुण हैं अतः इन्हें भी धर्म कहा जाता है इनके बारण करने से प्राणी विभाव से मुक्त होकर स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं अतः बारण करने के कारण से इन्हें धर्म कहा जाता है।

सांसारिक प्राणी कषायादि विभाव में ही अत्यन्त फंस रहा है स्वभाव की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती, स्वरूप जी ओर इसका ध्यान ही नहीं है। कुछ विशेष अवसरों पर ही वह अपने पुरुषार्थ द्वारा कषायों को मंद मंदतर व मंदतम करने का प्रयास करे इस अभिप्राय से सदैव भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्थी तक धर्म के इन दश लक्षणों की आराधना हेतु दश लक्षण परं भी मनाया जाता है। पर्व का अर्थ है उत्सव, पुण्य काल, जाने की सीढ़ी। सामान्यतः पर्व का प्रचलित अर्थ है—उत्सव, जिसमें आमोद-प्रमोद व खान पान पर ही महत्व दिया जाता है। पर दशलक्षण पर्व खान पान व आमोद-प्रमोद का पर्व नहीं है, यह ग्राध्यादिमक पर्व है, आत्माराधना का पर्व है। हमारे यहाँ मात्र आमोद-प्रमोद व खान पान हेतु ही पर्वों की स्थापना नहीं की गई अपितु विभाव से स्वभाव की ओर, अनात्मा से आत्मा की ओर प्रवृत्ति हेतु पर्वों की स्थापना की गई है।

ये दशलक्षण अथवा दश गुण भ्रमा आदि हैं जो क्षेत्र, मान, भाया, सोभ, हिंसा, भूँड़, चौरी, परियह व कुर्णील आदि कार्यक व मात्रिक विषमताओं-

विसंगतियों व विकृतियों की शान्त करते हैं। यह पर्व समस्त कर्मों के दहन तथा आत्म गुणों को विकसित करने के लिए प्रेरणा देता है।

अतः परम पूज्या श्रेद्य अभीशण ज्ञानोपयोगी, साधनारत अध्यात्म वेत्ता सरलमना आर्थिका रत्न प्रातः स्मरणीय पूज्य माँ १०५ श्री सुपाश्वर्म मति माता जी के द्वारा लिखित 'दशलक्षण धर्म विवेचन' जन साधारण की भाषा में लिपिबद्ध किया गया है। दश धर्म का पान कर मानव अजर-अमर पद को प्राप्त कर सकता है जिसको कि पू० माताजी ने आगमानुसार गहन अध्ययन के माध्यम से सरल भाषा में नया आश्राम देकर जन मानस को आप्लावित किया है। जिन्होंने इसका पान किया वे धन्य हो गये, जिन्होंने इनके नाद को सुना, वे छृत-छृत्य हो गये।

पू० माँ श्री आ० सुपाश्वर्मति जी ने प्राचीन एवं नवीन प्राच्य और प्रतीच्य सभी प्रकार के साहित्यिक सांस्कृतिक और वार्षिक ज्ञान को अपने अन्तस्त संज्ञो रखा है। आचार्य श्री वीर सागर जी महाराज से दीक्षा लेकर अपने जीवन को वीतराग पथ की ओर उत्सुक किया। साधना के धार्म में अनेकों घोर उपसर्ग आते रहे, उन्हें आपने तप साधना के बल पर निर्मल किये। आपका अपूर्व साहस, धैर्य एवं गहन ज्ञान व्यक्ति के अन्तःकरण में एक चमत्कारी प्रभाव डालता है। आचरण की तो आप जीवती जागती प्रतिरूप ही है। ज्ञान और चारित्र की पवित्र प्रभुभूति को जिस सरल, सरस और हृदयस्पर्शी शैली में अभिव्यक्ति मिली है उसे पड़कर हृदय ज्ञानद द से भर जाता है।

परम पूज्य गणिनी आर्थिका सुपाश्वर्मती माताजी के स्वर्णिम ५० वें दीक्षा महोत्सव पर इस ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन किया है। परम पूज्य माताजी साक्षात् सरस्वती की प्रतिमूर्ति हैं। आपनी संयम साधना के ५० वर्षों में जोके सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अनुवाद कर जैन सिद्धान्त साहित्य की अपूर्व सार्थकों की जिससे जैन साहित्यों का एवं ग्रन्थों का सम्पूर्ण देश में फैलाने में, देश के चारित्र की निर्मल बनाने में एक एतिहासिक भूमिका निभाई है। अभी भी माताजी के अंतर्गत में बहुत सा ऐसा ज्ञान भण्डार है जो कामग्र पर नहीं आ सकता है वह यदा-कदा उनके प्रवचनों में निकल आता है। इस कलिकाल में ऐसी विकृषी माताजी

का सान्निध्य समाज को मिल रहा है, यह बड़े सौभाग्य की बात है। माताजी के दीक्षा हीरक जयन्ती के मुनहरे अवसर पर आपकी अभिवन्दना करते हुए हम भावना करते हैं कि आगम और अध्यात्म की ऐसी ही प्रभावना आपके द्वारा होती रहे एवं हम अल्प जानी श्रावकों की आपका वात्सल्यपूर्ण शुशाशीवद मिलता रहे।

— ब्र. धर्मचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य



(vi)



ॐ ह्रीं श्री महावीरस्वामिने नमः ।
ॐ ह्रीं श्री चन्द्रसामराय नमः ।

* धर्म का स्वरूप : एक विवेचन *

कल्याण कारणमकारण शार्णिति हेतु
सेतुं विपत्तिजलघी पदपूतविश्वं
लोकावलोकन कलोक्षिति स्वरूपं
सिद्धि प्रसिद्ध वनितापतिमर्चवामि ॥

संसार के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख में भयभीत रहते हैं, परन्तु दुःख के कारणों को छोड़ना नहीं चाहते हैं। कारण के सदृश ही काव्य होता है—दुःख के कारणों से कभी सुख की प्राप्ति नहीं होती।

पापात् दुःख धर्मात्मुद्भविति सर्वजन सुप्रसिद्धभिदम् ।
तस्माद् चिह्नाय पापं चरतुं सुखार्थी तदा वर्मनम् ॥

पाप में दुःख होता है और धर्म में सुख होता है। यह सुप्रसिद्ध सत्य है। इसलिए सुखाकांक्षी मानव का कर्तव्य है कि पाप का परित्याग करके धर्म का आचरण करे। पाप आत्मा का शत्रु है, दुर्भाग्य में ले जाने वाला है।

पापमरातिर्मर्मो बन्धुर्विश्वं चेति निविच्चन्वन् ।
समर्यं यदि जानीते श्वयो जाता द्वुर्वं भवति ॥

पाप आत्मा का शब्द है और धर्म बन्धु है—इस प्रकार निश्चय करके जो आत्मा को जानता है, वस्तुतः वही आत्मा का जाता होता है।

“पति आत्मान् शुभात् रक्षति इति पापम्”—जो आत्मा की शुभ में प्रवृत्ति नहीं करते देता वह पाप है—अर्थात् आत्मा की विभावमयी परिणामि पाप है। हिंसा, भूल, चोरी, कुशल, परिग्रह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सगस्त प्रवृत्तियां आत्मा के प्रतिकूल हैं, अतः पाप रूप है। इस विभावमयी परिणामि का अभाव ही धर्म है।

आचार्य समर्पण ने कहा है :—

संसारङ्गतः सर्वान् उच्छृङ्खलं उत्तमसुखे धरतीति धर्मः—अर्थात् जो जीवों को संसार के दुःखों में निकालकर उत्तम सुख में पहुँचाता है उसको धर्म कहते हैं। वैदिक दर्शन कहते हैं :—यतोऽस्युदयः निःवैदिकिस्तिः स धर्मः—अर्थात् जिससे सर्वांगीण उदय—समृद्धि तथा मुक्ति की प्राप्ति ही, वही धर्म है।

श्री विवेकानन्द के शब्दों में :—‘मानव में विद्यमान देवतव की ग्रन्थियक्ति को धर्म कहते हैं।

डा० राधाकृष्णन के भनुसार—‘सत्य तथा त्याग की उपलब्धि एवं हिंसा के परित्याग को धर्म कहते हैं। उक्तं च

संसार—सामग्र—निमन् शरीरवृन्द—
मुद्रृत्य यो धरति सोक्षनिकेतनात्:
सज्जान् भानु—विवितालिल—वस्तुतर्वः
प्रोत्तो विवरेखिल—सौख्यकरः स धर्मः।

जो संसार—सामग्र में निमन जीवों को निकाल कर मोक्ष—महल में पहुँचाता है, अर्थात् जिसमें अनादिकाल से वधे हुए कर्मों का नाश होता है—सम्यक्ज्ञान रूप सूर्य के द्वारा आखिल तत्त्वों को जानने वाले सर्वज्ञ भगवान् ने उसी को आत्मकथाएँकारी धर्म बतलाया है।

मोह—क्षोभ रहित समता भाव रूप चारित ही धर्म है, वही आत्मा का स्वभाव है।

वस्तु सहावो धर्मो, खामो य दसविहो धर्मो।
रप्यणतयं च धर्मो, जीवाणुं रक्षयो धर्मो॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। जैसे अग्नि का स्वभाव उषणा है—यह उषणा ही अग्नि का धर्म है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान—दर्शन उपग्रहण रूप चैतन्य

भाव है और पुद्गल का स्वभाव अर्जैतन्य स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रूप है। जिस प्रकार स्पर्शादि के बिना पुद्गल नहीं, उसी प्रकार ज्ञान—शूल्य आत्मा नहीं। उत्तम ज्ञान आदि दशलक्षण भी धर्म हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय भी धर्म हैं।

सदृष्टज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेवरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवति भव-पद्धतिः ॥ रत्नः-खल० ३

धर्म के ईश्वर सर्वेज्ञ भगवान् ने रत्नत्रय को धर्म कहा है, और उससे उल्टे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को प्रधर्म कहा है, क्योंकि ये मिथ्यादर्शनादि संसार के कारण हैं। अंग्रेजों लक्षण दर्शाय धर्म है।

गव्यपि वस्तु स्वभाव, दशलक्षण धर्म, रत्नत्रय और अंग्रेजों लक्षण धर्म चार प्रकार से धर्म का लक्षण कहा गया है, तथापि निश्चयनय से विचार करके देखा जाय तो वस्तु—स्वभाव धर्म में अन्य तीनों लक्षण गम्भीर हैं, क्योंकि धर्म एक है, और धर्म एक है। धर्म धर्म का स्वभाव है। धर्म भिन्न-भिन्न होने से धर्म भी युक्त-न्युक्त हो जायेंगे। इसलिए प्रमेदनय की अंग्रेजों से वस्तु—स्वभाव—लक्षण धर्म एक ही है। परन्तु वस्तु को जानने के तरीके भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए व्यवहारनय की अंग्रेजों धर्म के लक्षण युक्त-न्युक्त हैं। परन्तु इससे धर्म अनेक प्रकार के, नहीं ही सकते। यह चैतन्य तेज—स्वरूप त्रिकाल ध्रुव जाता द्रष्टा आत्मा अनादिकाल से कर्म—बन्धन के कारण स्वभाव-रूप परिणाम हो रहा है। विभावमय राग-द्वेष की कालुष्य भावों से पर-पदार्थों में इष्टानिष्ठ की कल्पना करता है, पर-पदार्थों की अपना मानता है, आत्मज्ञान से पराङ् मुख होकर, स्वच्छन्द प्रदृष्टि करता है, अतावदप्रदृष्टि करता है और इसका ज्ञान ही अंग्रेज है। अंग्रेजों का अभाव धर्म है। जिससे आत्मज्ञान सहित विद्यय-वासनाओं में प्रवृत्ति करता है, व प्रमाद के वशीभूत होकर, हिंसा, भूल, चोरी, कुशल, परिग्रह संज्ञक पांचों पांचों में प्रवृत्ति करता है यह विभाव परिणामि ही अंग्रेज है और इसका अभाव धर्म है। जिस समय मिथ्या दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप विभाव पर्यावर का नाश होता है उस समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म का आविर्भाव होता है। रत्नत्रय के सामर्थ्य से ऋषोंद्वादिक ज्ञानसे आत्मा के उत्तमक्षमादि धर्म की उत्पत्ति होती है, तथा राग-द्वेष का अभाव होता है जिससे आत्मा के स्वयमेव अंग्रेजों की उत्पत्ति होती है और राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होना ही

अप्रादुभीवः खनु रागादीनामहिसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

राग-द्वेष की उत्पत्ति ही हिंसा है और राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होना ही

तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि जिस प्रकार सौंदर्य, कला की बोधी नहीं, उसी प्रकार उपासना का सम्बन्ध केवल धर्म से नहीं जोड़ा जा सकता।

धर्म अत्यन्त विशाल व विस्तुत विषय है वह परिभाषाओं की सीमाओं में सिमटने वाला नहीं वह अनुभूति का विषय है। विश्व की प्रत्येक वस्तु का अपना एक धर्म है जो है जेतन सत्ता हो या अचेतन सत्ता, सब अपने अपने धर्म से अनुप्रणिए हैं। अतः धर्म की परिभाषा जेतन अचेतन सभी के सन्दर्भ में पूर्ण होनी चाहिए। आचार्यों ने अपने अनुभव विन्दन मनन के आधार पर कहा 'वस्तु सहानु धर्मो, वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।'

प्राणी का स्वभाव विविध रूप है हमारे तीर्थकरों ने, आचार्यों ने, विद्वानों ने प्राणी मात्र को अपने स्वभाव में स्थिति करने हेतु स्वभाव को अत्यन्त सहज वा सरल रूप में समझाया है उन्होंने जीव को लक्ष्य करके स्वभाव के, धर्म के लक्षण समझाए हैं, जिससे वह सहज रूप में उन्हें समझें और विश्व से स्वभाव की ओर प्रहृत हो सके। उन्होंने आत्म वर्तने के दश लक्षण समझाए हैं जो क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आर्किचर्य व ब्रह्मचर्य हैं। ये धर्म के दश पुरुष हैं अतः इन्हें भी धर्म कहा जाता है इनके धारणा करने से प्राणी स्वभाव से मुक्त होकर स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं अतः धारणा करने के कारण से इन्हें धर्म कहा जाता है।

सासारिक प्राणी कथापादि विभाव में ही अत्यन्त फंस रहा है स्वभाव की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती, स्वरूप की ओर इसका ध्यान ही नहीं है। कुछ विशेष अवसरों पर ही वह अपने पुरुषर्थ द्वारा कथायों को मंद मंदतर व मंदतरम करने का प्रयास करे इस अभिप्राय से सर्वै भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक धर्म के इन दश लक्षणों की आराधना हेतु दश लक्षण पर्व भी मनाया जाता है। पर्व का अर्थ है उत्सव, पुण्य काल, जाने की सीढ़ी। सामान्यतः पर्व का प्रचलित अर्थ है—उत्सव, जिसमें आमोद-प्रमोद व खान पान पर ही महत्व दिया जाता है। पर दशलक्षण पर्व खान पान व आमोद-प्रमोद का पर्व नहीं है, यह आध्यात्मिक पर्व है, आत्माराधना का पर्व है। हमारे यहां मात्र आमोद-प्रमोद व खान पान हेतु ही पर्वों की स्थापना नहीं की गई प्रापितु विभाव से स्वभाव की ओर, अनात्मा से आत्मा की ओर प्रवृत्ति हेतु पर्वों की स्थापना की गई है।

ये दशलक्षण अथवा दश गुण क्षमा आदि हैं जो ऋष, मात, माया, लोभ, हिंसा, भूङ, चोरी, परिश्रह व कुशील आदि कायिक व मानसिक विषमताओं-

विसंगतियों व विकृतियों को शान्त करते हैं। यह पर्व समस्त कर्मों के दहन तथा आत्म गुणों को विकसित करने के लिए प्रेरणा देता है।

अतः परम पूज्य श्रेद्ध अभीष्ट ज्ञानोपयोगी, साधनारत अव्यात्म वेत्ता सरलमना आर्थिका रत्न प्रातः स्मरणीय पूज्य मां १०५ श्री सुपार्व भूति माता जी के द्वारा लिखित 'दशलक्षण धर्म विवेचन' जन साधारण की भाषा में लिपिबद्ध किया गया है। दश धर्म का पान कर मानव अजर-अमर पद को प्राप्त कर सकता है जिसको कि पूर्ण माताजी ने आगमानुसार गहन अध्ययन के माध्यम से सरल भाषा में तथा आयाम देकर जन मानस को आप्लावित किया है। जिन्होंने इसका पान किया वे धर्म ही गये, जिन्होंने इनके नाम को भुना, वे कृत-कृत्य हो गये।

पूर्ण मां श्री आ० सुपार्वभूति जी ने प्राचीन एवं नवीन प्राच्य और प्रतीच्य सभी प्रकार के साहित्यिक सांस्कृतिक और दार्शनिक ज्ञान को अपने अन्तस में संजो रखा है। आचार्य श्री वीर सागर जी महाराज से दीक्षा लेकर अपने जीवन को वीतराग पथ की ओर उन्मुक्त किया। साधना के मार्ग में ग्रनेकों द्वारा उपर्यां आते रहे, उन्हें अपने तप साधना के बल पर निर्मूल किये। आपका अपूर्व साहस, वैर्य एवं गहन ज्ञान व्यक्ति के अन्तःकरण में एक चमत्कारी प्रभाव डालता है। आचरण की तो आप जीती जागती प्रतिरूप ही है। ज्ञान और चारित्र की पवित्र अनुभूति को जिस सरल, सरस और हृदयस्पर्शी शैली में अभिव्यक्ति मिली है उसे पढ़कर हृदय आनन्द से भर जाता है।

परम पूज्य गणिनी आर्थिका सुपार्वभूति माताजी के स्वर्णम ५० वें दीक्षा महोत्सव पर इस ग्रन्थ का पुनःप्रकाशन किया है। परम पूज्य माताजी साधात सरस्वती की प्रतिमूर्ति हैं। अपनी संयम साधना के ५० वर्षों में अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अनुवाद कर जैन सिद्धान्त साहित्य की अपूर्व सप्तर्णी की जिससे जैन साहित्यों का एवं ग्रन्थों का सम्पूर्ण देश में फैलाने में, देश के चारित्र को निर्मल बनाने में एक एतिहासिक भूमिका निभाई है। अभी भी माताजी के अंतर्गत में बहुत सा ऐसा ज्ञान भण्डार है जो कामगृह पर नहीं आ सकता है वह यदा-कदा उनके प्रवचनों में निकल जाता है। इस कलिकाल में ऐसी विदुषी माताजी

का सन्निध्य समाज को मिल रहा है, यह बड़े सौभाग्य की बात है। माताजी के दीक्षा हीरक जयन्ती के सुनहरे अवसर पर आपकी अभिवन्दना करते हुए हम भावना करते हैं कि आगम और अध्यात्म की ऐसी ही प्रभावना आपके द्वारा होती रहे एवं हम अल्प ज्ञानी श्रावकों को आपका वात्सल्यपूर्ण शुभाशीर्वाद मिलता रहे।

— ब्र. धर्मचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य



(vi)



ॐ ह्रीं श्री महावीरस्वामिने नमः ।

ॐ ह्रीं श्री चन्द्रसागराय नमः ।

* धर्म का स्वरूप : एक विवेचन *

कल्पाण कारणमकारण शान्ति हेतु
सेतुं विपर्तिजलधी पदमूतविश्वं
लोकावलोकन कलाकृति स्वरूपं
सिद्धि प्रसिद्ध वनितापतिमर्चवामि ॥

संसार के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख में भयभीत रहते हैं, परन्तु दुःख के कारणों को छोड़ना नहीं चाहते हैं। कारण के सदृश ही कार्य होता है—दुःख के कारणों से कभी सुख की प्राप्ति नहीं होती।

पापात् दुःख धर्मसिद्धुमिति सर्वजन सुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद् चिह्नाय पापं चरतु सुखार्थं सदा धर्मम् ॥

पाप में दुःख होता है और धर्म में सुख होता है। यह सुप्रसिद्ध सत्य है। इसलिए सुखाकांक्षी मानव का कर्त्तव्य है कि पाप का परित्याग करके धर्म का आचरण करे। पाप आत्मा का शब्द है, दुर्गति में ले जाने वाला है।

पापमरातिर्मर्मो वन्धुर्जीवस्य चेति निश्चन्वन् ।
समर्थं यदि जानीते श्रे यो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥

पाप आत्मा का शब्द है और धर्म बन्धु है—इस प्रकार निश्चय करके जो आत्मा को जानता है, वस्तुतः वही आत्मा का जाता होता है।

“पाति आत्मानं शुभात् रक्षति इति पापम्”—जो आत्मा की शर्म में प्रवृत्ति नहीं करने देता वह पाप है—अथर्वा आत्मा की विभावमयी परिणामि पाप है। हिंसा, भूल, चोरी, कुशील, परिघह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि संग्रस्त प्रवृत्तियां आत्मा के प्रतिकूल हैं, अतः पाप रूप है। इस विभावमयी परिणामि का भावाव ही धर्म है।

आचार्य समन्वयभूद् ने कहा है :—

संसारङ्गतः सत्यवाद् उच्छुद्य उत्तमसुखे धरतीति धर्मः—अथर्वा जो जीवों को संसार के दुःखों में निकालकर उत्तम सुख में पहुँचाता है उसको धर्म कहते हैं। वैदिक दर्शन कहते हैं :—यंतोऽग्न्युदय-निश्चयस्थिदिः स धर्मः—अथर्वा जिससे संवर्णित उदय-समृद्धि तथा मुक्ति की प्राप्ति हो, वही धर्म है।

श्री विवेकानन्द के शब्दों में :—‘मानव में विद्यमान देवत्व की अभिव्यक्ति को धर्म कहते हैं।

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार—‘सत्य तथा न्याय की उपलब्धि एवं हिंसा के परित्याग को धर्म कहते हैं। उत्तम च

संसार-सागर-निमग्न शारीरिकवृद्ध-
मुद्दुय यो धरति मोक्षनिकेतनात्तः
सज्जानं भानु-विदिताखिल-वस्तुतत्त्वं
प्रोक्तो जिनरेखिल-लोक्यकरः स धर्मः।

जो संसार-सागर में निमग्न जीवों को निकाल कर मोक्ष-महल में पहुँचाता है, अथर्वा जिसमें अनादिकाल से वैदेय हुए कर्मों का नाश होता है—सम्यक्ज्ञान रूपी सूर्य के द्वारा अखिल तत्त्वों को जानने वाले सर्वज्ञ भगवान् ने उसी को आत्मकल्याणकारी धर्म बताया है।

मोह-क्षीभ रहित समता भाव रूप चारित्र ही धर्म है, वही आत्मा का स्वभाव है।

वल्यु सहावो धर्मो, खमादि भावो य दसविही धर्मो।
रयणात्यं च धर्मो, जीवाणुं रक्षणं धर्मो॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। जैसे अग्नि का स्वभाव उषणा है—यह उषणा ही अग्नि का धर्म है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन उपयोग रूप चैतन्य

२]

भाव है और पुद्गल का स्वभाव अचैतन्य स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रूप है। जिस प्रकार स्पर्शादि के बिना पुद्गल नहीं, उसी प्रकार ज्ञान-शून्य आत्मा नहीं। उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण भी धर्म हैं। सम्यदर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय भी धर्म हैं।

सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं वर्णेवरा विदुः।

यदीय प्रयत्नोकानि भवन्ति भव-पद्धतिः ॥ रत्नः-स्त्रो० ३

धर्म के ईश्वर सर्वज्ञ भगवान् ने रत्नत्रय को धर्म कहा है और उससे उल्लेखियादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को धर्म कहा है, क्योंकि ये मिथ्यादर्शनादि संसार के कारण हैं। अहिंसा लक्षण दयामय धर्म है।

वच्च पि वस्तु स्वभाव, दशलक्षण धर्मं, रत्नत्रय और अहिंसा रूप चार प्रकार से धर्म का लक्षण कहा गया है, तथापि निश्चयनय से विचार करके देखा जाय तो वस्तु-स्वभाव धर्म में अन्य तीनों लक्षण गमित हैं, क्योंकि धर्म एक है और धर्मों एक है। धर्म धर्मों का स्वभाव है। धर्म भिन्न-भिन्न होने से वर्ती भी पृथक्-पृथक् हो जायेंगे। इसलिए अभेदनय की अपेक्षा से वस्तु-स्वभाव-लक्षण धर्म एक ही है। परन्तु वस्तु को जानने के तरीके भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए व्यवहारनय की अपेक्षा धर्म के लक्षण पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु इससे धर्म अनेक प्रकार के नहीं हो सकते। यह चैतन्य तेज-स्तरूप त्रिकाल श्रुत ज्ञाता इष्टा आत्मा अनादिकाल से कर्म-बन्धन के कारण विश्वाव-रूप परिणत हो रहा है। विभावमय राग-द्वेष की कालुष्य भावों से पर-पदार्थों में इष्टानिष्ठा की कल्पना करता है, पर-पदार्थों को अपना मानता है, आत्मज्ञान से पराड़-मुख होकर रस्तद्वंद्र प्रवृत्ति करता है, अतत्वशब्दान करता है जिससे उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाता है और मिथ्याज्ञान सहित विषय-वासनाओं में प्रवृत्ति करता है व प्रमात्र के वशीभूत होकर हिंसा, भूल, चोरी, कुशील, परिघह संज्ञक पात्रों यात्रों में प्रवृत्ति करता है यह विभाव परिणाम ही धर्म है और इसका अभाव धर्म है। जिस समय मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप विभाव परिणाम का नाश होता है उस समय सम्यदर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म का आविष्यक होता है। रत्नत्रय के सामर्थ्य धर्मों की उत्पत्ति होती है तथा रामादि भावों का सर्वथा अभाव होने पर आत्मा की स्वभाव अहिंसात्मक परिणाम होती है जाती है, क्योंकि

अप्रादुभीवः खनु रामादीनामहितेति ।

तेषामेवोपत्तिहितेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

राग-द्वेष की उत्पत्ति ही हिंसा है और राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होना ही

[३

अभिसा है—जिनामों में हित्ता और प्रहित्ता का यह लक्षण है। यद्यपि भेद विवक्षा से भर्मे के लक्षण भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु विभेद विवक्षा से भर्म का लक्षण एक मात्र बहुत का स्वभाव ही है। रत्नवर्ण भी शात्मा का स्वभाव है, प्रोत् उत्तम धार्मिक भी शात्मा का स्वभाव ही है। इसलिए यह भी भर्म है। शाकाच्छय उमा स्वार्मी ने तत्त्वानुष्ठृतम् एव भर्म का स्वल्पण इस प्रकार बतलाया है :—“उत्तमशमा-मार्दांश्चर्जन्त-योनि-सत्य-स्वरूप-नृपस्याच्च वृहत्यर्थाणि भर्मः”। उत्तम क्षमा, मार्दंव, आर्जन्त, सत्य, शौरी, स्वरूप, तप, त्याग, शाकाच्छय और वृहत्यर्थ यह दशलक्षण-उत्तम धर्म अथवा उत्तमा का स्वभाव है।

स्वामी कार्तिकेय ने कहा है :—

सो चियदहृपयारो खमाहिभावेहि सुख सारेहि ते
परण भणिज्यमाणा मणिग्रन्था परमभन्नीम् ।

वह धर्म उत्तम क्षमादि के भेद से दश प्रकार का है और सच्चे सुख को देने वाला है तथा सुख-स्वरूप है। यह उत्तम क्षमादि धर्म परम भक्तिपूर्वक मनन करते योग्य है।

निष्पत्तयन ये से आत्मा में सम्पर्कवादी नैति, ज्ञान, चारित्र, भक्ति, मार्गांक आदि भेद नहीं है। अखण्ड, श्रुति, वाचशब्द, पर्याप्ति भेद से रहित, चिन्मय, परम ज्ञानीतर्माहे-व्यवहार के अप्रोक्त हैं। परंतु व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञाता, द्रष्टा, रत्नवय, उत्तम शासदि व्यवहार कहा जाता है। क्योंकि व्यवहार नय के बिना परमार्थ का अवलम्बन करना शापन नहीं है, अतः व्यवहार नय की अपेक्षा धर्म का भेद लूप से बहुत कम किया गया है। इसलिए इन उत्तम ज्ञानांक भावों का पृथुक् पृथुक् वर्णन बहुत कम किया गया है।



and for which the population is small.

उत्तम क्षमा

क्षमूष सहने—क्षमूष धातु सहन करने में आता है

क्षमा तितिक्षा पृथग्वीच योग्ये शकते हिते क्षमं । इति कोशः

क्षम्यते क्षमते वा क्षमा । सहन किया जाय वा सहन करे उसे क्षमा कहते हैं । सहन शीलता आत्मा का स्वाभाविक गुण है ।

‘शरीर स्थिति हेतुमार्गण्याश परकुलान्मु पगच्छतो भिक्षोदुष्ट जनाकोश
प्रहसनवज्ञा ताडन शरीर व्यापाद नादीनां सविधाने कालुष्यानुपत्तिः क्षमा ।
उत्तमा श्रेष्ठा क्षमा उत्तम क्षमा ।

शरीर की स्थिति के कारण भूत आहार के लिये पर घर में भ्रमण करते हुये चिक्कों को कोई दुर्वचन कहता है, उपहास करता है, उसको शांत भावों से सहन करता कल्प्य भाव की उत्तरित नहीं होना चाहिए है।

क्रोधेत्पत्तिनिमित्ता विषध्याक्रोशादि संभवे कालध्यो परमः क्षमा

अवज्ञा ताङ्न शरीर वेदन आदि ऋब्ध के असाध्य निमित मिलने पर भी काल्पकाता का नहीं होना उत्तम क्षमा है।

धर्म धर्मसुखान का मानव दंड है। विद्युत व्यय का परिमाण जिस प्रकार विद्युत परियाक यंत्र द्वारा जाना जाता है। उसी प्रकार हर्ष कार्य एवं अनुष्ठान समूह की अनुमापक यंत्र क्षमा है। जहाँ पर क्षमा नहीं है वहाँ पर ब्रह्मानुष्ठान कार्यकारी नहीं होते हैं। ग्रन्तस्थल में आत्मगोपन करके स्थिति कोष रुदी शत्रु को नष्ट करने से ही आत्म शक्ति आत्मानुशृणि की प्राप्ति होती है। जीवन पथ में अनेक आघात आकर्षण सहन करके मानव बड़ा बनता है। जैसे घट कुम्भकार की हाथ के योग्ये खाकर बड़ा बनता है। सहिष्णु मानव जगत् का प्राप्ता बनता है। इसलिये ही आत्म न निदानों की निदा तथा विश्व वादियों की समालोचना सुनकर भगवनी मानसिक प्रवृत्ति को विकारी भूत करो सदा सावधान और सजग रहो

अन्यथा कोशली चौर तुम्हारे मानसिक घर में प्रवेश कर तुम्हारी क्षमा निधि को चुरा कर ले जायेगा ।

जड़जनकुतबाधाक्रोधहासप्रियादावपि सति न विकारं यन्मनोयति साधोः ।
अमलविवृतचित्तेष्टत्तमा सा धमादे खिवसंतपथिकानां सत्सहायत्वमेति ॥ पद्म०८८०

दुर्जन ना सूखं जनों के द्वारा किये गये ताड़न मारन आक्रोश को सुनकर भी साधु का मन किंचित्तमात्र भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है उसीको निम्न चित्तवाले महायुद्धमें न उत्तम क्षमा कही है और वही मोक्ष मार्ग में सहायक बनती है । कार्तिकैय प्रभुपेक्षा में कहा है—

कोहेण जोणं तप्पदि तिरिएऽहि कीरभाणेवि
उवसगेवि रुद्देतस्स खिमारिमला होदि ।

देव, तिर्यच, मनुष्यादि के द्वारा धोर उपर्याङ्ग किये जाने पर भी परिणामों में संवेश नहीं होना, आकूलता नहीं होना क्षमा है । क्षमा आत्मा का गुण है जो क्षोभ-क्षय से विकृत हो जाता है । जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतल है, परन्तु अग्नि का संघोग पाकर उष्णता हो जाता है । उष्णता जल का स्वभाव नहीं है, परन्तु उसका विभाव है । अग्नि का सम्पर्क दूर होने पर वही जल अपनी स्वाभाविक शीतलता को प्राप्त हो जाता है । उस जल में शीतलता के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि उसका वह स्वाभाविक गुण है । इसी प्रकार क्षमा गुण-युक्त ग्रवेस्त्रा आत्मा का स्वाधी गुण है, इसके लिए अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं है । परन्तु जल में उष्णता के समान आत्मा का स्वाभाविक गुण क्षमा क्षोभ-क्षय के उदय से विकृत हो जाता है और यह विकृति स्वाभाविक नहीं है । जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क के आवाव में उष्णता शोत्र हो जाती है, उसी प्रकार क्षोभ-क्षय के आवाव में विकार आवाव शोत्र होता है । जैव यह जीव निज भाव रूपं परिणामन करता है तब सूखी होता है, क्योंकि यशोर्य में सूख अपने आत्म-स्वभाव से प्राप्त होता है और जब यह अपने स्वभाव से उच्छुत होकर परेशाव अर्थात् विभावभाव को प्राप्त होता है तब दुःखी होता है । अतः क्षोभ-भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु परपदार्थ के संघोग से उत्तम हुआ विभाव भाव है । अतः यह आत्मा का ग्रहित करक है । विश्व के समस्त जीव सूख के इच्छुक हैं और दुःख से भयभीत हैं, इसलिए सूख के इच्छुक प्राणी का कर्तव्य है कि वह विषधर के समान भयंकर एवं प्राणाशातक क्षोभ का त्याग करके क्षमा-भाव को धारण करे ।

क्षोभ के समान कोई ग्रहितकारी वस्तु नहीं है और क्षमा के समान गुणकारी । क्षोभ इस लोक में भी दुःख का कारण है और परभव में भी दुर्जन

में ले जाने वाला है । उत्तं च मुक्त मुक्तावली—

यो मित्रं मधुनो विकार करने संत्रास सम्पादने
सर्वस्य प्रतिविम्बयं दहने सप्तार्चिषः सोदरः ।
चेत्यस्य निष्ठुदने विषतरो स ब्रह्मचारी चिरं
स क्षोधः कुशलाभिलाष कुशलैर्निर्भूतमन्मूल्यताम् ॥

जो क्षोध चित्त को विकृत करने के लिए मद्य का मित्र है, अर्थात् शराब के समान विकार उपश करने वाला है; सर्प तुद्य भयोत्पादक है और अग्नि के समान शरीर को जलाने वाला है, अर्थात् क्षोध के आवेदन में ग्राकर प्राणी अग्नि के समान जलने लगता है । यह क्षोध आत्मा के जीवन को नष्ट करने में विषवृक्ष के सदृश है । अतः आत्महितेच्छु जनी जनों के द्वारा वह क्षोध दूर से ही उत्तरः दिया जाना चाहिए । शास्त्र परिणाम रूपी जल से सिन्चित, पुण्य-समूह रूपी पुष्पों से उच्छुत, मधुर फलदायक तपचरणारूपी वृक्ष को क्षोभरूपी अग्नि भस्मसात् कर डालती है । यह क्षोध उत्तम क्षमा, संतोष, ज्ञानिं आदि गुणों का नाश करने के लिए दावानाल के समान है एवं नीतिरूपी लता को उखाइने के लिए गजराज-तुल्य है । सागर-फेन तुल्य यश-क्षीर्ति का विनाश करने के लिए राहु के समान है । यह समस्त विषतरों का जनक है, दयाभाव का लोप करता है, शोक सन्ताप करक है, मित्राना को निष्ठु दने करने के लिए राहु के समान है । यह समस्त विषतरों का जनक है, दयाभाव का लोप करता है, शोक सन्ताप करक है, मित्राना को निष्ठु दने वाला है तथा उड़ गकारक है । क्षोधी मानव निर्वा बचन बोलता है, कलह करता है और मर कर द्विपायन मुनि के समान दुर्जनि को प्राप्त करता है । अतः क्षोध का परिणाम करके क्षमा-भाव धारण करना चाहिए ।

अपमुर्वति कोपश्वेतु किं न कोपाय कुप्यसि
धर्मविर्कास मोक्षाणां जीवितस्य च नाशिने ॥ क्षत्र चूडां

हे आत्मन् यदि तुं अपकारी पर कोप करता है तो धर्मं ध्रथं कामं मोक्षं और जीवन का नाश करने वाले क्षोध क्षयों नहीं करता है ।

द्वीपायान मुनि की कथा

सोरठ देश में द्वारिका नामक प्रसिद्ध नगरी है जो वैत्तीक्ष्यपूजित नेमिनाथ प्रमु के जन्म से परम पावन हुई थी । उस नगरी के अनुशास्ता बसुदेव के मूत्र नेमिनाथ के चचेरे भाई नवे नारायण श्रीकृष्ण और बलभद्र थे । एक दिन नारायण और बलभद्र भगवान् नेमिनाथ के समवशरण में भगवान् की बदना करने के लिए गये । भगवान् के दर्शन से उनका हृदय आत्म विनोद हो गया । आँखों से वारणी गदगद हो गयी । समस्त शरीर रोमाञ्च से व्याप्त हो गया । आँखों से

आनन्दाश्रु बहने लगे। दोनों हाथ मुकुलित हो गये। अत्यन्त भक्तिभाव से दोनों ने प्रभु के पादपद्मों में नमस्कार किया तथा मानवोचित कोष्ठ में बैठकर धर्मोपदेश मुना। तत्पश्चात् बलभद्र ने भगवान् से पूछा—हे संसार के अकारण बन्धो, हे केवल ज्ञानरूपी नेत्र के धारक, हे तीन जगत् शास्त्रिन् हे कशणात्मिन्, हे लोका लोक प्रकाश विभो !—वायुदेव के पृष्ण से रचित यह द्वारिका नगरी और इसकी सम्पदा कब तक स्थिर रहेगी ? भगवान् ने उत्तर दिया—बारह वर्षों के बाव द्वारिका जलकर भर्म से हो जायेगी। द्वीपायन मुनि के ऊपर मध्याहन से मदोन्मत्त युद्धवंशी धोर उपसर्ग करें, जिससे दीपायन मुनि कृष्ण होकर द्वारिका को नष्ट करने में कारण बनेंगे। जगत्प्रश्न के मुख्यारविन्द से यह भविष्यवाणी मुनकर बलभद्र द्वारिका आये और उन्होंने समस्त शराब के घड़ों को गिरनार पर्वत के जगल में फिकवा दिया। द्वीपायन मुनि भी द्वारिका छोड़कर अन्यत्र चले गये। किन्तु हीनहार को कौन टाल सकता है लालों प्रयत्न करने पर भी भगवान् वर्षज के बचन अन्यथा नहीं हो सकते। बारह वर्ष होने के कुछ समय द्वार्च ही द्वीपायन मुनि को यह भावित हो गयी कि बारह वर्ष पूरे हो गये हैं। अतः वे द्वारिका लौट आये और गिरनार पर्वत के समीप व्यानस्थ होकर बैठ गये। उसी समय पापकर्मों के द्वारा खोच हुए की तरह युद्धवशियों के राजपुत्र गिरनार पर्वत पर कीड़ा कीटों की भयकर गर्भों के कारण वे प्यास से अतीव व्याकुल होकर चारों ओर पानी की खोज करने लगे। इतने में एक गड्ढ में वर्षकाल का सञ्चित जल दृष्टिगोचर हुआ। उसको देखकर पिपासाङ्कुल राजपुत्रों के आनन्द की सीमा नहीं रही, यानों अन्नों को आंख और रक्त की निधि मिल गयी हो। वे सब उस गड्ढ के समीप जाकर पानी पीने लगे। सत्य ही है—

प्यास न देखे धोकी घाट ।
नींद न देखे टटी खाट ॥
भूख न देखे झूंठो भाट ।
काम न देखे जात कुजात ॥

उन युद्धवंशी राजपुत्रों ने गड्ढ के उस पानी से अपनी प्यास बुझाई। थोड़ी देर बाद में वे उन्मत्त होकर उछलने-कूदने लगे, क्योंकि उस गड्ढ के जल में बलभद्र के द्वारा फैकी हुई शराब मिश्रित थी। उछल-कूद मचाते हुए एवं गाली-गलतीन करते हुये वे जल जा रहे थे तो अचानक उनकी दृष्टि व्यानस्थ द्वीपायन मुनि पर पड़ी। उन्हें देखकर अकारण उनकी कोशानिन भयक उठी मानों पावक में थी की आहुति ही पड़ी हो। परस्पर कहने लगे-अहो ! यह

८]

दीपायन हैं। इसी के कारण द्वारिका जलकर भर्म होती। यह दुष्ट है—ऐसा कहकर वे उन पर पत्थर बरसाने लगे, कोई उन पर थूकने लगा, कोई गाली देने लगा, किसी ने उन पर मल-मूत्र कर दिया। यह सत्य है कि मध्यपादी मानव का हृदय ज्ञानशून्य हो जाता है, वह हैपोटेय को भूल जाता है। मुनिराज आत्म-ध्यान में लीन है। इसे उपसर्ग समझकर वे धैर्यपूर्वक शान्त भाव से बैठे रहे। परन्तु जब राजपुत्रों ने उन पर धोर उपसर्ग किये तब वे विचलित हो उठे और उनकी ओर उमड़ आया। उनकी आँखों से कोश की चिनगारियाँ निकलते लगीं। जब बलभद्र को यह समाचार मिला तो वे शोक ही द्वीपायन मुनि के पास आकर प्रार्थना करने लगे, परन्तु दीपायन मुनि का कोश ज्ञान नहीं हुआ और मरकर तपस्या के कल से वे व्यंतर जाति के देव हुए। क्रुञ्जवधि जान के द्वारा पूर्वेभव की घटना को जातकर उस व्यंतर देव ने कोश के आवेदन में आकर द्वारिका नगरी में आग लगा दी। अग्नि की भयंकर ज्वाला में जलकर द्वारिका भर्मसात् हो गयी। कोश के बड़ीभूत हुए प्राणी कौन-सा प्रनर्थ नहीं करते।

कहा भी गया है :—

तीर्थार्थिवेक जप होम दयोपवास,
ध्यान व्रताध्ययन संयम दान पूजा ।
नेहकृफल जगत् देहवतां ददत्ते,
यदददयो निक्षिल काल हितो ददाति ॥

जिस उत्तम फल की प्राप्ति आमावान् को होती है, कोशी मानव को नहीं ही सकती। कोशी मानव के जग, तप, तीर्थादिन, दान, पूजा आदि उत्तम कार्य भी व्यर्थ हो जाते हैं। कोश के विवरण में किसी ने सत्त्व ही कहा है :—

वैरं विवर्धयति सरूपमपाकरोति
रूपं विरूपयति निन्द्यमर्ति ततोति
दौभर्ग्यमानयति शाश्वते च कीर्तिं (कीर्तिः)
रोषोद्रव रोषः सदृशो नहि शत्रुरस्ति ।

अर्थात् कोश वैर को बढ़ाता है, भिन्नता को दूर कर देता है, रूप का विरूप कर देता है, कुमति का विस्तार करता है, दुर्भाग्य को लाता है तथा कीर्ति को खण्ड कर देता है। कोश के समान कोई ग्रन्थ शत्रु नहीं है।

यह कोश एक मानसिक उद्देश है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है जिससे उसकी विचार-क्षमता और तर्क-शक्ति शिथिल हो जाती है। भावात्मक स्थिति में बड़ी हुई आवेदन की वृत्ति युग्मसात् को जन्म देती है। युग्मसात् को और ग्रमर्थ आक्रमण को उत्पन्न करता है। कोश का आवेदन होते ही

[६

शारीरिक स्थिति परिवर्तित हो जाती है, आमाशय की मंथन किया, रक्तचाप, हृदय की गति और मस्तिष्क के ब्रान-नेट्वर्क सब अव्यवस्थित हो जाते हैं। हृदय उचितानुचित के विवेक से शून्य हो जाता है। स्वभाव की चंचलता इसरों पर असत्य का आरोपण करना, अन्यकृत अपराधों को क्षमा नहीं करना, जोर-जोर से चिल्लाकर अनुचित भाषण करना, रोद्र रूप भारण करना, मारने पीटने पर उतारू हो जाना, आक्षेपात्मक भाषण करना—यह सब क्रोधन्जन्य विकृतियाँ हैं।

देखिए, किसी ने कितनी सच्ची बात कही है :—

कोध करि मरे और मारे, ताहि फासी होय,
किंचित् हूँ मारे बोहू जाय जेलखाने में।
जो कहूँ निवल भये हाथ-पौव टूट गये,
ठौर-ठौर पड़ी बंधी पड़े सफालाने में।
पीछे से कुटम्बी जन हाय-हाय करत फिरे,
जाय जाय पैरों पड़े तहसील और धाने में।
किंचित् किये ते कोध एतो दुःख होत, भ्रात !
होत हैं अनेक गुण जरा-सा गम खाने में।

क्षमा और शान्ति में जीव सदा सुखी रहता है, पर क्रोध में उसे एक यल के लिए भी जैन नहीं मिलता। क्रोध के आते ही शरीर के रोम-रोम से परीना छूटने लगता है, प्राणी होठों को ढंसने लगता है, दात घिसने लगता है, आंखों से अग्नि की जिनगारियाँ निकलने लगती हैं, प्राणी जान और आनंद की विलुप्त भूल जाता है। ऐसे कोध-शत्रू की क्षमा की देना से पराजित करके कुचलना चाहिए।

यह क्षमा कोध-हृषी पर्वत को भेदन करने के लिए वज्र के समान है, एवं स्वर्ग और मोक्ष के दार को खोलने के लिए कुंजी के समान है। जिस प्रकार सम्यक्तत्व के उत्पन्न होने से मिथ्यात्म नष्ट हो जाता है, संयम के द्वारा असंयम विलीन हो जाता है, हवा के चलने से बादलों की धनबोर घटाएँ छिप-भिप हो जाती है, सूर्योदय से रात्रिअन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार क्षमा-भाव के उत्पन्न होते ही क्रोधादि विकार नष्ट हो जाते हैं। बैरी भी क्षमावान् के अधीन हो जाते हैं। क्षमावान् व्यक्ति के यश की दृढ़ि होती है, ऐश्वर्य बढ़ जाता है। क्षमा ही सम्यक्त है, क्षमा ही सम्यग्नान है। क्षमा ही सम्यक्चारित्र है। उत्तम क्षमा ही शुद्धोपयोग और शुद्धोपयोग है।

क्षमा-हृषी दृक् की अनुकूल्या जड़ है, संयम स्वरूप है, ब्रह्म-नियम दृक् को वृद्धिगत करने के लिए पानी और पंच महाप्रत आदि वर्तों का समुदाय इस दृक् को

सुरक्षित रखने एवं पुष्टि प्रदान करने के समान है। अठारह हजार शौल के भेद इस दृक् की शाखाएँ हैं। पाँच समिति इसकी कलिकाएँ हैं। तीन गुणित इसके प्रवाल हैं, सर्ववचन इसके पुष्प हैं, सर्यादर्जन्य इसके पुष्टों की सुरानिध हैं। सन्तोष और शान्ति इसकी शीतल धाया है और मोक्ष इसका परम सुदर फल है। जो शुद्धोपयोगी और शुद्धोपयोगी भव्यजन पवित्र इसका आश्रय लेते हैं उनका संसार ताप दूर हो जाता है। पाप के ताप से पीड़ित प्राणियों के लिए यह क्षमादृश शान्ति-प्रदायक है। आर्त-रोद्र ध्वनि की नाशक उत्तम क्षमा के बल से आकुलता का नाश होता है और परम शान्ति की प्राप्ति होती है। क्रोधी मानव भी क्षमा से प्रेरित होकर क्रोध भावना को छोड़ देते हैं, यथा :—

सेठ दयाचन्द्र और सेठानी क्षमा की कथा

उन्नेपिनी नगरी में दयाचन्द्र नामक एक क्षमाशील, परोपकारी एवं सरल स्वभावी सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम क्षमा था। परन्तु वह केवल नाम



सेठ दयाचन्द्र पर उसकी धर्म पत्नी भूतन डालती हुई

से ही क्षमा थी, उसके हृदय में क्षमा का लेशांत्र भी नहीं था। वस्तुतः वह अधिनन्द कीवी और दुष्ट प्रकृति की नारी थी। दिन भर सास, समुर, देवरानी जेठानी आवित के साथ कलह करना उसका आवश्यक कर्म था। वह अपने पति दयाचन्द के समक्ष अपने सास-समुर की निन्दा करती और कहती कि मैं तुम्हारी माता के साथ नहीं रहूँगी क्योंकि वह मुझे गालियाँ देती हैं और मेरा अपमान करती है। मुविज्ञ सदव्यवहारी दयाचन्द ने उसको सम्बोधित करते हुए कहा कि मेरे माता—पिता तुम्हारे हैं उनकी सेवा भक्ति करना तुम्हारा परम कर्तव्य है। वहुं पुरुषों का क्रोध विनाश रहते पर शान्त हो जाता है। विनयशील के सब आदीन हो जाते हैं। विनश्च व्यक्ति अपनी विनम्रता और भक्ति से दूसरों के हृदय को जीत लेता है और सबका प्रतिपात्र बन जाता है। क्षमा से सबको वश में किया जा सकता है। अतः तू क्षमाशील बन और अपने नाम की सार्थक बना। जिस प्रकार द्वृत की आहुति से भ्रमित भ्रमक जाती है उसी प्रकार अपने पति के इन वचनों को सुनकर क्षमा की क्रोधान्ति और भी भ्रमक उठी। उसने सेठ के द्वारा कुवचनों के वारणों की वर्णा शुरू कर दी। उसी दिन से वह अपने पति के साथ भी प्रतिदिवकलह करने लगी। परन्तु क्षमाशील सेठ ने अपनी शान्ति नहीं छोड़ी। वह उसे गालिया देती, परन्तु शांत परिशासी शेठ दयाचन्द सुमेह के समान शान्त और निश्चल बने रहते। सेठानी के कुवचनों को सुनकर कभी प्रत्युत्तर नहीं देते क्योंकि —

दुर्जन का मुख बंब है किंकसत बचन भुजंग।
वा की औरपवि भौजन है विष नहिं व्यापत अंग॥
दुष्ट बचन सुन चुप रहो, बोले होवे हानि।
भाटों मारे कीच में, छीटे लागे आनि॥

एक दिन सेठ दयाचन्द भोजन करने आये तो सेठानी क्रोध से बड़बड़ाने लगी। सेठ ने तुच्छाच भोजन किया और उठकर अपनी दुकान पर जाने लगे ज्योंहीं से महल से उतर कर नीचे आये और सड़क पर जाने लगे कि सेठानी ने उनके ऊपर भूठन डाल दी। सेठ ने ऊपर आकर अपनी पत्नी से सहज भाव से मुस्करा कर कहा—हे भावें! तू गरजती हो रोज भी परलतु वरसी तो आज ही है। अपने पति के सहज शान्त भाव को देखकर एवं शान्तिमय वचनों को सुनकर उसके हृदय का क्रोध शान्त हो गया और वह उनके चरणों में गिरकर अपने अपराधों की क्षमा मांगने लगी। उसका हृदय पश्चाता से जलने लगा। उसके पति ने उसको कभी भी क्रोध न करने की प्रतिज्ञा दिलवायी। उस दिन के बाद घर की समस्त श्रशान्ति दूर हो गई। जो घर नरक-तुल्य था अब वह स्वर्ण बन गया। शान्ति का साम्राज्य छा गया। यह सब उत्तम क्षमा के सुभाव से हुआ-

ऐसा है क्षमा का फल। ठण्डा लोहा गर्म लोहे को पीटकर उसे इच्छानुसार रूप दे सकता है।

क्रोधस्त्वया यदि विभो ! प्रथमं निरस्तोऽ
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कमेचौरा ?
प्लोषत्यसुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नीलद्रुमाणिं विपिनाति त किं हिमानी ?

हे प्रभो ! यदि आपने क्रोध को पहले ही नष्ट कर दिया था तो फिर क्रोध के विनाशकरने कर्म-शत्रुओं का नाश किस तरह किया ? इस लोक में केवल अग्नि ही जलाती है—ऐसी बात नहीं। वया तुषार ठण्डा होने पर भी हरे-भरे ढोओं वाले वर्णों को नहीं जला देता है। अर्थात् अवश्य ही जला देता है।

अतः क्षमा धारणा करके अपने हृदयस्थ क्रोध का दमत करना चाहिए। क्षमा के समान कोई स्तर्ति नहीं है। क्षमा आत्मा का गुण है—कोव आत्मा का विभाव भाव है। क्रोध चारित्र मोह की प्रकृति है जो आत्मा के संबंधम गुण का धात करती है। आज वाचनिक क्षमा की आवश्यकता नहीं है। हार्दिक क्षमा से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

यह संसारी प्राणी अनादिकाल से पर पदार्थों को अपना समझकर वर्यथ में सुखी अव्याप्ति दुःखी होता है। जिस प्रकार वात-याति से गतुष्प के अंग-अंग दुखने लगते हैं उसी प्रकार कशयों से विषयेच्छाओं से उसकी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश दुःखी हो रहा है। अतः मानव का कर्तव्य है कि क्रोध-क्षमाय का नाश करने के लिए क्षमा-धर्मानुसृत का पान करे और अमर एवं शाश्वत सुख प्राप्त करने की सतत चेष्टा करे।

वह ऊँचाई नहीं जहां से पतन हो—वह सुख नहीं जहां से दुःख की प्राप्ति हो। वास्तविक सुख वह है जो आत्मीय हैं। जिसमें पर का लेश मात्र नहीं है। क्षमा आत्मा का व्यवधाव है उसमें पर का लेश भी नहीं है। अतः क्षमा ही वास्तविक सुख है और आत्म-कल्याण की सोपान है।

उत्तम खम तिल्लो यह सारी। उत्तम खम जम्मो दहितारी।
उत्तम खम रघुण्यत्रय-धारी। उत्तम खम दुग्धई दुह हारी॥

उत्तम क्षमा तीन लोक में सारभूत है जन्म मरण रूप संसार रम्यत्र से तारने वाली है। रत्नत्रय को प्राप्त करती है तथा दुर्योग को हरण करती है।

ਉਤਸਮ ਖਮ ਗੁਣ ਗਣ ਸਹਯਾਰੀ, ਉਤਸਮ ਖਮ ਮੁਹਿੰਵਿਦ ਪਿਧਾਰੀ ।
ਉਤਸਮ ਖਮ ਕੁਧਰਾ ਚਿਤਾਸ਼ਣਿ, ਉਤਸਮ ਖਮ ਸੱਪਜ਼ਇ ਥਿਰ ਮਝਿ ॥

यह उत्तम क्षमा अनेक गुणों के समूह की सद्वाचारी है। यह उत्तम क्षमा मनुजन को प्यारी है — उत्तम क्षमा ज्ञानी जनों के लिए चित्तान्तरिक्ष के समान है। उत्तम क्षमा स्थिर मन वालों को ही प्राप्त हो सकती है।

उत्तम खम महरिंज सथल जगि ।
उत्तम खम मिच्छत्ता तमो मणि ॥

उत्तम क्षमा समस्त महापुरुषों के द्वारा पूजनीय है। यह उत्तम क्षमा मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नाश करने के लिए मणि के समान है।

ਜਹਿ ਅਸਮਤਥਹੁੰ ਦੋਸੁ ਖਮਿਜ਼ਜ਼ਾਈ, ਜਹਿ ਅਸਮਤਥਹੁੰ ਰਾ ਤੇ ਰਸਿਜ਼ਜ਼ਾਈ ।

जहाँ असमर्थ के दोषों को क्षमा कर दिया जाता है वाउन पर रोप नहीं किया जाता है। मन में कालुष्य भाव की उत्पत्ति नहीं होना ही क्षमा है।

जहि आकोसण वयण सहिजइ। जहि पर दोस रण जरिण मासिंजजइ।
जहि चेपणगुणा चित्त धरिजजहि तहि उत्तम खम जिरो कहिजजइ॥

जो मानव द्वारा दूसरों को दोष नहीं देकर, अपने पूर्वोपायित कर्मों का फल है ऐसा विचार कर दुर्जनों के आकोश वचन सहन किये जाते हैं तथा अपने चेतन्य गुणों का अनुभव किया जाता है, आत्मानुद्विष्टि में लीन हुवा जाता है उसी की ही जिनेन्द्र भगवान् ने उत्तम क्षमा कहा है ।

इय उत्तम खम जुय एर सुर खग गुय केवलराणु लहेवि थिरु ।
हय सिद्धिशिरंजण भव दह भंजण अगणिय रिसि पञ्चव जिचिरू

इस प्रकार उत्तम क्षमा से युक्त मनुष्य, देव और विद्याधरों से वंदित तथा भव दुख का नाश करने वाले अग्रणीत् ऋषि उपांशु अविनश्वर केवलज्ञान को प्राप्त कर कर्मकलंक से रहित होकर सिद्ध हो गये हैं। उस क्षमा युगा धारी अधिकारों के चरणों में शत शत वन्दन, शत शत वन्दन।

॥ उत्तम क्षमा धर्म की जय ॥



उत्तम मार्दव

मुट्ठे धातु कोमलता में आता है—मृगधरे मृद शोदे (क्या प. से. पृथि वृद्धि
प्रस्तानी)। मुद्रों भविवः कर्म वा मार्दवं इति निरुक्ते—इसलिए मुट्ठ का भाव मृदुता
है—अर्थात् भानसिक कोमलता का नाम मार्दव है। अर्थात् चित्त में कोमलता की
और व्यवहार में न ब्रह्मा होना मार्दव धर्ष है। मार्दवं धर्मं की सिद्धि के लिये
जाति कुलादि के मद का तथा करना आवश्यक है।

जात्यादिमदावेशादभिमाना भावो मार्दव मान निर्हरणं वा सर्वार्थं सि० ।
जाति आदि के मध्य का आवेश का अभाव होना मार्दव है अथवा मान क्षमत्य का अभाव होना मार्दव है ।

विनष्ट भाव की प्राप्ति सार्दूल भाव है।

आजं पञ्चां कलं आति बृह महिं वप्ते दद-

अष्टावाश्रित्य मानित्वं समयमाहर्गतस्मशाः । उत्तरः पञ्चोऽपि

इति श्लोक कथितस्याष्टविघ्स्य मदस्य समावेशात् परकृतपराभिभवनं निमित्ताभिमानं सुकृतं मार्दवं मच्यते ।

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल इत्यनुषिद्ध तप, शरीर इन आठ वस्तुओं का अभिमान नहीं करना मार्दव है अथवा परक्रम पराभिमान की उत्पत्ति के तिमित मिलने पर भी अभिमान नहीं करना मार्दव है।

जब चिरा में मार्दव भाव उत्पन्न होता है तब परमात्मन की उत्पत्ति होती है। परम आत्मीय भाव जागृत होने में मार्दव भाव ही कारण है।

मार्दव भाव आत्मा का गुण है। मोक्ष सुख का कारण है। कर्म निर्जारा के कारण भूत मार्दव तप का कारण है क्योंकि विनय नाम का तप मार्दव सेही उत्पन्न होता है। यह मार्दव धर्म अंहकर का नाशक है। परमिति बुद्धि का मशोन्मत्तम् नाशकर आत्मानभृति को प्राप्त करता है। यद्यपि अब्दिरात् नय ते नमान का तप

मार्दव है तथापि निश्चय नय से अपनी आत्मा में रमण करना बाह्य पदार्थों के अहंकार-ममकार का त्याग करना ही मार्दव है। मार्दव के बिना जप तप नियम सफल नहीं होते हैं। इस मार्दव युगे की वातक मान—कथाय है। जिसके कारण यह मानव अहंकारी बनता है अपने स्वभाव से च्युत होकर विभावमय परिणाम धरण कर जान। दिकाल से संसार सागर में गोता खारहा है जैसे पोते भ्रष्ट लगवर समुद्र में गोता खाता है। मार्दव की नाशक मान कथाय है।

मान-कथाय का लक्षण

कुल, वल, ऐश्वर्य जाति, जान, तप, बृद्धि पूजा आदि किसी भी कारण को पाकर घमण्ड करना मान-कथाय है। मान-कथाय में उत्तेजन और आवेश होता है। इस मान-कथाय के आवेश में आकर मानव अपने स्वेष्य को भूल जाता है, अपनी अद्वितीय का पोषण करता है, विनय-भाव का नाश करता है। इस मान रूपी पर्वत से विष्टित-रूपी नवियाँ निकलती हैं। समता-भाव-रूपी स्वेष्य को उड़ाकर, निर्भूत बुद्धि रूपी सोकल को तोड़कर, दुर्बचत-रूपी धूल को उड़ाता हुआ, आगम रूपी अकुश को नहीं मानने वाला विनय रूपी उड़ान का दलन करने वाला और पाप-रूपी भूमि पर स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करता हुआ। अहंकार से अन्धा मानी मानव-रूपी हाथी कथा कथा अनवर्त नहीं करता है।

मान आचार-विचार-विनाशी बादलों को नष्ट करने के लिए वायु के तीव्र वेग के समान है, विनय रूपी जीवन का नाश करने के लिए विष-तुष्य है, और कीर्ति रूपी कमली को उड़ाड़ फेंकने के लिए यदोमत्त गज के सदृश है।

मद आठ प्रकार के हैं—

(१) जान-मद—इन्द्रिय-जनित जान को प्राप्त कर मदोमत्त हो जाना जान-मद है। इन्द्रिय-जनित जान क्षणांचंती है। यह चिरस्तायी नहीं होता है। यह जानावरशी कीमों के क्षयोपयाम के आवीन है। इसको प्राप्त करके अहंकार करने से आत्मीय युगों का नाश होता है।

(२) ऐश्वर्य-मद—पाप के कारण दुर्विति में ले जाने वाले, भाई भाई में कलह उत्पन्न करने वाले, आर्थियान को उत्पन्न करने वाले ऐश्वर्य को प्राप्त करके आत्म-स्वरूप को भूल जाना ऐश्वर्य-मद है।

(३) कुल-मद—आत्मा के न भाई है, न पिता है और न कुटुम्ब है। शरीर की उत्पत्ति के निमित्त पिता के बंगा को कुल कहते हैं। किसी अच्छे कुल में जन्म ग्रहण करके अपने को उत्तम मानता, गवित होकर दूसरों का अपमान करना और

बड़ों के प्रति अविनाशी बनता कुल-मद है।

(४) जाति-मद :—अपने नाना, मामा को धन सम्पत्ति देखकर उनका घमण्ड करना जाति-मद है।

(५) बल-मद :—अपने शरीर की शक्ति का अभिमान करना बल-मद है।

(६) रूप-मद :—अपने शारीरिक रूप और सौन्दर्य पर गर्व करना रूप-मद है।

(७) पूजा-मद (स्थाति-मद) :—अपनी स्थाति स्थवा मान्यता पर गवित हो उठना पूजा-मद (स्थाति-मद) है।

(८) तप-मद :—अपने तपश्चरण का अभिमान करना तप-मद है।

जिन आठ वस्तुओं का मान किया जाता है वे वस्तुओं क्षणिक हैं। अभी हैं श्री कुछ समय पश्चात नष्ट हो जाती हैं। जिस क्षयोपयामिक ज्ञान को प्राप्त कर मानव मदोमत्त बनते हैं उस ज्ञान का नाश होने में विलम्ब नहीं लगता।

एक गांव में एक बाह्यण रहता था। उसको अपने ज्ञान का बहुत घमण्ड था। ज्ञान के मद में चूर होकर वह सदा सबको नीचा दिखाने का प्रयत्न करता था। ज्ञानावरशी कर्म के उत्तर से जिनको ज्ञान कम होता वह उनकी हँसी उड़ाया करता था। किसी भी चारित्रशोल को वह नमस्कार नहीं करता था। कुछ दिनों के बाद एक बार उसके मस्तक में बड़ी भयकर पीड़ा हुई। अग्रेक उपचार करने पर भी उसका रोग दूर नहीं हुआ। अन्त में उसकी बुद्धि अप्ट हो गयी और वह पागल होकर मरा तथा गर कर नकर में गया।

आचार्य बार बार कहते हैं—हे आत्मन्! जिस ज्ञान का तु गर्व करता है वह ज्ञान तो विनाशील है। जो ज्ञान अविनाशी है उसके उत्पन्न होने पर गर्व होता ही नहीं है। अतः क्षणिक ज्ञान को पाकर गर्व करना उचित नहीं है।

संतारिक धन-सम्पदा कभी भी यिर नहीं रही है। श्रीकृष्ण जैसे अद्व-चक्री की सम्पदा भी नष्ट हो गयी। मरते समय उन्हें कोई पानी विलाने वाला भी नहीं मिला। अतः धन-मद करना व्यथा है।

शरीर के सौन्दर्य का नाश होते देर नहीं लगती। सनतकुमार चक्रवर्ती अत्यन्त रूपवान थे। एक बार उनके रूप की प्रशंसा इन्द्र ने अपनी सभा में की, जिसे मुक्त कर संर्ग के दो देव उनके रूप-सौन्दर्य को देखने के लिए आए। जिस समय वे सनतकुमार के यहाँ पहुँचे, उस समय वे स्वान कर देहे थे। उनके मनोहर रूप को देखकर वे अवाक् रह गये। मन हो मन विचारने लगे कि ऐसा सौन्दर्य तो केवों में भी नहीं है।

तदनन्तर राजसमा में उपस्थित होकर उनके रूप सौन्दर्य को देखने लगे। परन्तु स्नान करते समय जो अतौकिक सौन्दर्य उहोने देखा था वह अब नहीं था। अतः वे अपना सिर धुनने लगे। सभा के लोगों ने उनसे पूछा—‘आप अपना सिर क्यों धुन रहे हैं?’ उहोने कहा—‘स्नान करते चक्रवर्ती सग्राट के जिस अपूर्व सौन्दर्य को हमने देखा था अब उनमें वह सौन्दर्य नहीं है। यह सुनकर सभा के लोग आश्चर्य करने लगे। दोनों ने जो कुछ कहा वह उहें बिल्कुल अविश्वसनीय सा लगा।

तब दोनों ने उहें समझाते हुए कहा—जिस प्रकार पानी से भेरे हुए घड़ में से एक दो बूँद पानी निकलने पर छाद्यस्य जीवों को पता नहीं चलता, उसी प्रकार आयु और सौन्दर्य भी क्षण प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, परन्तु अल्पज्ञों को उसका ज्ञान नहीं हो पता। दोनों के इस कथन को सुनकर चक्रवर्ती सनकुलमा को संसार के भोगों से विरक्ति हो गई। घटखण्ड की सम्पदा को छोड़कर उन्होंने तान दिग्मधर मुद्रा धारण कर ली।

पूर्व भव के महान् पाप कर्म के उदय से उनके शरीर में कुष्ट रोग हो गया रोग के कारण उनका सारा शरीर जर्जर हो गया। सी वर्षों तक वे कुष्ट रोग से पीड़ित रहे, परन्तु उनके मुख पर निषाद की क्षण रेखा भी नहीं आयी। जब देवों को उभाने वाला उनका मनोहर शरीर भी रोग-ग्रस्त हो गया तो साधारण संसारी जनों का शारीरिक सौन्दर्य कैसे थिर रह सकता है।

मान-कथाय से मानव के मेदविज्ञान-रूपी नेत्र अन्धे हो जाते हैं। मान का अवलम्ब कर मूढ़चला निन्दनीय कार्य करता है तथा चन्द्रमा के समान अपने निर्मल व्यक्त को कल्पित करता है।

स्वप्नर्विता लक्ष्मीमती की कथा

लक्ष्मी नामक नगर में सोमदेव नाम का ब्राह्मण रहता था जो देव शस्त्र-गुरु का भक्त सदाचारी और परम विनयशील था। उसके लक्ष्मीमती नाम की प्रिया थी जो प्रस्तु रूपवती एवं योवन से मदोन्मत्त थी। एक दिन सोमदेव के घर पर सम्प्रदर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी रत्नत्रय से विभूषित, अटडाईस मूलगुणों के धारक, चौरासी लाख उत्तं-गुणों के पालक एवं पक्ष मासादि उपवास के ह्लाङ शरीर को कृश करने वाले इन्द्रिय-विजयी समाधिगुणों नाम के मुनिराज आहार के लिये आये। सोमदेव ने बड़ी भक्ति से उनका पदगाहन किया और अपनी पत्नी से कहा—प्रिये! तुम उनको आहार दो।

उस समय उसकी पत्नी आसन पर बैठी हुई दर्पण में अपना मुख देख रही

थी। अपने सौन्दर्य से भद्रोन्मत्त लक्ष्मी मुनिराज के नगत रूप को देखकर दुर्बचन कहने लगी।

इसका शारीर मलिन है, यह नीच है, दुर्दिल है, निलंज देकर वस्त-भर भीख मांगता फिरता है—ऐसा कहकर उसने अपने भव के दरवाजे बन्द कर लिये।

अहो! दुरात्मा मिथ्यादृष्टि पाप से प्रेरित होकर कौन से पाप नहीं करते?

दर्शनेन जिनेन्द्रारणां साधूनां वन्दनेन च,
न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम् ।

मुनिराजों के दर्शन करने से श्रीर जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन से अनादिकाल से उपाजित हिये हुए पाप क्षण भर में उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सच्चिद्र ग्रन्जिलि का पानी नष्ट हो जाता है।

जगत्पूज्य मुनिराजों का जो अनादर करते हैं वे नरकों में जाकर घोर द्रुख भोगते हैं।

मुनिराज समाविग्रहत आहार किये बिना ही उसके घर से लौट गये। सातवें ही दिन पासिनी लक्ष्मीमती के शरीर में भयंकर कुष्ट रोग हो गया। वीतराणी मुनियों की निन्दा करके मुनि निन्दा के पाप से कौन बच सकता [उसके शरीर से मंहा द्वयीन्धन निकल रही थी जिसके कारण कोई उसके पास बैठ भी नहीं सकता था। घर के भोगों ने उसे घर से निकाल दिया। असह्य शारीरिक वेदना से व्याकुल होकर वह अग्नि में जलकर मर गयी।

मानव यह सोचता है कि मर जाने से कष्टों से मुक्ति मिल जायेगा। यदि मरने से ही कर्म कष्ट दूर हो जाव तो सभी अपशात करके जायं श्रीर संसार के द्रुखों से सद्गत ही छुटकारा पालें। मरने से केवल शरीर ही छुटता है। कर्म बन्धन की बेड़ी नहीं। कर्म तो सदा साथ ही रहते हैं दूसरे भव में भी साथ जाते हैं और भयंकर द्रुख देते हैं।

वह लक्ष्मीमती अपशात—दुर्वक मरकर पापकर्म के कारण किसी शोबी के घर गयी हुई। जन्म लेते ही उसकी मां मर गयी। मां के द्रुष के अभाव में वह भी शीघ्र ही मर गयी। फिर उसी गाव में शूकरी, कुकरी आदि अनेक योनियों में जन्म लेकर उसने भयंकर द्रुख भोगे।

यह सत्य है कि मुनि-निन्दा का कार्य हलाहल विषपान से श्री ज्यादा द्रुख कारक है। हलाहल विष तो एक भव के प्राणों का धातक है जबकि मुनि-निन्दा रूपी पाप भव-भव में द्रुख देते हैं।

कर्म फल भोगते जब कर्मों का कुछ लक्षणिक हुआ तो वह नर्मदा नदी के तट पर भृगुकच्छ नगर में एक धीवर के यहाँ पैदा हुई। वह एक आख से कारसी थी, अतः उसका नाम काणा रखा गया। उसके शरीर में दुर्घट व्याप्त थी। पूर्व भव में ब्राह्मण कुल में परम सुन्दरी लक्ष्मीमती के रूप में जन्म ग्रहण करने वाली आज धीवर के घर में दुर्घटमम शरीर वाली कुरुप कन्या है। अतः बुद्धिमानों को कभी भी रूप का गर्व नहीं करना चाहिए।

वह धीवर की पुत्री नाव से लोगों को नदी पार कराती थी और किसी तरह बड़ी कठिनाई से अपना उदय भरती थी। शीक ही है, पापी मानव को कहीं भी सुख शाति की प्राप्ति नहीं होती।

एक दिन नदी तट पर अवधिज्ञान के धारक एक मुनिराज आये। काणा ने नमस्कार किया और उनसे पूछा—गुरुदेव ! मुझे ऐसा लगता है कि मैंने आपको कहीं देखा है।



मुनिराज धीवर की पुत्री को पुर्णजन्म के पाप कर्मों का बोध कराते हुए।

मुनिराज ने कहा—हे बालिके ! पूर्व भव में तू सोमदेव ब्राह्मण की महान अभिमानी पत्नी लक्ष्मीमती थी, रूप और योवन में मदहोश होकर तू वे लीतरामी मुनिराज को देखकर खलानी की और उनका धोर अपमान करके धोर पापोपार्जन किया। फलतः कुट्ट रोग से पीड़ित होकर तू मरी और अनेकों योनियों में अपने पापकलों को भोगती हुई अब धीवर की पुत्री के रूप में तू पैदा हुई है। धन, रूप तपादि का धमष्ट कभी भी नहीं करना चाहिये। हे पुत्री ! मद सम्पदवर्णन का धातक है, दुर्गति में ले जाने वाला है। रावण को अपनी शक्ति का मद था कि मैं

विद्याधर हूं जब कि राम भूमिगोचरी है—वहाँ आकर सीता को नहीं ले जा सकता। पर वह विश्वास्थिपति रावण लक्ष्मण के हाथों मारा गया। मान से हृदय में कठोरता प्राप्ति है। कठोर हृदय वाला निर्देश होता है। अतः मानकषाय का त्याग करके मार्दव भाव धारण करना चाहिये। मार्दव भाव के प्रभाव से विज्ञ रूपी भूमि में कश्यपा की बेत उत्पन्न होती है। कोमल परिणामों से इस लोक में यश और परलोक में देवत्व की प्राप्ति होती है। मह मार्दव धर्म संसार-संयुक्त को पार करने के लिए नौका के समान है, अभिमान-रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए निर्मल जलेधारा है, सुक्ति रूपी लक्ष्मी को प्राप्त कराने के लिए दूती है, मिथ्यात्म-रूपी बादलों का नाश करने के लिए प्रतय काल की प्रचण्ड वायु है। अतः मानकषाय का परित्याग करके मार्दव भाव धारण करना चाहिये।

मुनिराज के उपवेश को सुनकर एवं अपने पूर्वभव के द्वस्तावत्त को जातकर काणा बहुत दुःखी हुई। उसका हृदय पश्चाताप से जलने लगा। अपने द्वारा किए हुए पापों की वह निन्दा करने लगी और उसने हिंसादि पर्चि पापों का तत्काल त्याग कर दिया।

जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य, रूप, तप, धन, धत, आदि को अपना स्वरूप समझ कर जो गर्व करते हैं उनको यह जान नहीं है कि जाति, कुल आदि क्रमोदय के आधीन हैं। पुद्गल के विकार होने के कारण ये सब विनाशशील हैं। ये कभी भी अविनाशी अमूर्तिक ज्ञानःस्वभावी आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकते हैं। परिवर्तन शील संसार में यह जीव न जाने कितनी बार राजा हुआ, कितनी बार रंक हुआ कितनी बार महाकृष्णद्वारा देव हुआ, कितनी बार स्वर्ग में देव हुआ और कितनी बार पशु, पक्षी तथा कीट-पतंग के रूप में उत्पन्न हुआ। अतः मान के प्रवृत्त पर चढ़ना व्यथा है। उत्तम ख्याति आदि से युक्त होकर के भी इनका मद न करना ही मार्दव है। यह मार्दव आत्मा का स्वभाव है। यह मार्दव ही भवसांगर से पार उतरने के लिए नौका के रावण है।

मान आचार-विचार-रूपी बादलों को नष्ट करने के लिए वायु के समान है, विनय-रूपी जीवन का नाश करने के लिए विषधूर्ष सर्प के तुल्य है, और कोर्कित रूपी कमलिनी को उखाड़ फेंकने के लिए गजराज के सदृश है। धर्म, अर्थ, धौर काम रूपी विवर्ग का नाश करने वाले मान की छोड़कर मार्दव-भाव को ग्रहण करना चाहिये। मान-रूपी रोग को भिटाने के लिए मार्दव-रूपी संजीवनी बूटी का सेवन करना चाहिए।

विवर्ण विना विद्या नहीं, विद्या विन नहीं ज्ञान।

ज्ञान विना सुख नहीं मिले, यह निश्चय कर जान।

मार्दिव-धर्म संसार का नाश करने वाला है, मान का मर्दन करने वाला है। दया-धर्म का मूल है एवं उद्देश्यों का नाश करने वाला है। आज हमारे धरों में जो विरोध की अभिन्न भ्रमक रही है उतका कारण है छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित हो जाना। आज हमारी बहुतें आरुंदाह के वशीभृत होकर किसी के कहुवचनों को लहन नहीं कर पाती। सास की एक बात सुनकर आज की अविकांश बहुएं सास को हजारों कटु वचन सुनाने के लिए तैयार रहती हैं। इसीलिए आज घर घर में श्रान्ति का वातावरण बना हुआ है। यदि हम विनय सीख ले तो हमारा परिवारिक जीवन सुखमय हो जाय। ब्रत, संयम, जान आदि विनय से ही शोभा पाते हैं।

यह मार्दिव-धर्म मान-कथाय का नाश करता है तथा पाँचों इन्द्रियों एवं मन का निग्रह करता है। यह मार्दिव-भाव कल्पणा-रूपी तृतीन जल है जो चिन्त-रूपी पृथ्वी पर फैलकर शान्ति, विनय, सम्प्रदर्शन आदि फलों को उत्पन्न करता है यही जिनेन्द्र भक्ति को उत्पन्न करता है, कुनुदि के प्रसाद को नष्ट करता है और परस्पर के विरोध को समाप्त कर देता है। यही परिणामों की निर्मलता का भी कारण है। दोनों प्रकार के तप अर्थात् अन्तरंग वहिरंग तप को वर्दिगत करने वाला है। यह मार्दिव-धर्म ही संसार-समृद्धि से पार करने वाला है। मार्दिव-भाव आत्मा का स्वभाव है और मात-कथाय मार्दिव-भाव का विकार है, आत्मा की विभावम् नी परिणाम है। यह मान-कथाय आत्म-गुणों का धात करने वाला है। अतः मान-कथाय रूपी विभाव-भाव का विनाश करके आत्म-स्वभाव को प्राप्त करना चाहिए।

ऊँच कुल जाति बल धनैश्वर्य श्रेष्ठता को,
पुरु उदै पाकर क्या मान करे बावरे।
आपकी महान जानि श्रीसन को तुच्छ मानि,
पीकै जद मध्य धरै भूमि पै न पावरे।
बड़े बड़े धरी युनी चक्रवर्ती शंखशाह,
ऊँच चढ़ि निर देख खोलि तू किताब रे।
ताते अब छोड़ि मान सभी को समान जान,
सर्व धर्म में प्रधान मार्दिव को भाव रे॥

महउ भव महु माण एकंदणु, दय धम्महु भूत जि विमलु।
सब्बहं हियारउ गुण गुणसारउ, तिसहु वंड संजम सहलु॥

यह मार्दिव धर्म संसार का नाशक है। मान का मर्दन करने वाला है। दया धर्म का यह मार्दिव ही मूल है। निर्मलता का कारण है। सबका हितकारक है। सर्वगुणों में श्रेष्ठ है और उसी मार्दिव से ब्रत और संयम लफल होते हैं।

महउ माण कथाय विहुंडणु महउ परिद्विय मरा दंडणु।
महउ धम्मे कहणा वली पसरइ चित्र महीहि गावली॥

मार्दिव मान कथाय का नाश करता है। पाँचों इन्द्रिय और मन का निग्रह करता है। मार्दिव धर्म के प्रसाद से कल्पणा रूपी लता, मन रूपी भूमि पर विस्तरित करती है।

महउ जिएवर-भक्ति प्रयासइ महउ कुमइ चलइ गिण्डणातइ।
महवेणा बहु विशय पवट्टइ महवेणा जरणे बइरु उहरई॥

मार्दिव धर्म जिनेन्द्रवेद भी भक्ति प्रकट करता है: मार्दिव धर्म कुनुदि के प्रसाद को रोकता है। मार्दिव धर्म में विनय भाव उत्पन्न होता है और वर भाव नष्ट हो जाता है।

महवेण परिणाम विशुद्धि, महवेण तहु लोय हं सिद्धि।
महवेण दी चिह्न तज सोहइ महवेण एव तिन्मु विशुद्ध॥

मार्दिव धर्म से परिणाम में विशुद्धि आती है, मार्दिव धर्म से उभय लोक की सिद्धि होती है, मार्दिव धर्म से दोनों ब्रकार का तप सुखाभत होता है और मार्दिव धर्म से नुत्य लीनों लोकों को प्राणियों की समिति कर देता है।

महव जिए सांखण जारिएज्जइ, अप्या पर सक्ष भारिज्जइ।
महउ दोस असेस गिण्डारइ, महउ जम्म उग्रहि उत्तारइ॥

मार्दिव धर्म से जैन-शासन का ज्ञान तथा अपने और पर के स्वरूप का प्रतिभास होता है। मार्दिव धर्म सभी दोषों का विकारण करता है तथा मार्दिव धर्म संसार समृद्धि से पार कर देता है।

सम्हांसण अंगु महउ परिणामु जि मुरहु।
इय परिवाणिविच यहु धम्मु ध्रमल पुणहु॥

मार्दिव परिणाम सम्प्रदर्शन का अंग है, ऐसा ज्ञानकर अद्वृत और निर्मल मार्दिव धर्म की स्तुति करो।

॥ उत्तम मार्दिव धर्म की ज्ञाने ॥



उत्तम आर्जव

क्रृष्णभावः आर्जवम्—अर्थात् मन-वचन-काय की कुटिलता का परित्याग करके चित्त में सरल निष्कपट भाव धारण करना ही उत्तम आर्जव ब्रह्म है। आर्जव आत्मा का स्वभाव है।

आर्जव-भाव के समान लंसार में कुछ भी प्रशंसनीय नहीं है और मायाचार के समान निन्दनीय नहीं है। यद्यपि मायाचारी मानव दूसरों को ठगने का प्रयत्न करता है, परन्तु वह स्वयं ही ठगा जाता है और अपने छल-कपट-पूर्ण आचरण के कारण अपने आप को नर्क-के गत्ते में डाल देता है। दूष्ट अभिन्नप्राय वालों मायाकी व्यक्ति अपने ऊपर आने वाली विपत्ति को उसी प्रकार नहीं देखता है, जिस प्रकार अत्यन्त सरकं भाव से दूध पीने वाली बिल्ली अपने ऊपर आने वाली विपत्ति को नहीं देखती है।

माया सत्यवचन रूपी सूर्यों को छिपने के लिये घनबोर अन्धकार के समान है, एवं समताभाव-रूपी कमलों को विनष्ट करने के लिए तुपार-सदृश है। यह माया अक्षकीर्ति का प्रसार करने वाली है और सैकड़ों दुर्घटनों को उत्पन्न करने वाली है। यह माया ही प्राणियों के संसार-परिभ्रमण का एवं ग्रनेकानक विपत्तियों का कारण है। ऐसी माया को दूर करके आर्जवभाव को धारण करना चाहिए।

जिस प्रकार आग की छोटी-सी चिनगारी सारे घर को जलाकर भस्म कर देती है, छोटे से बिचूँ का डंक सारे शरीर में जलन पैदा कर देता है—उसी प्रकार माया का अत्यधींश भी व्रत, संयम, तप आदि के द्वारा उपार्जित पुण्यकर्मों को क्षण भर में नष्ट कर देता है।

मुनिराज गुणधर और विनयधर की कथा

एक नगर में गुणधर और विनयधर नामक दो मुनिराज विराजमान थे।

उनमें मुनिराज गुणधर आत्मपनादि योग के धारी थे। चातुर्मास में चार महिने तक वे एक ही स्थान पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहते थे।

एक बार उहोंने एक उद्यान में चातुर्मास किया। चार महिने तक एक ही स्थान पर अदोल अकम्भ खड़े रहे। चातुर्मास की समर्पित पर देवी ने आकर उनकी पूजा की। जय जयकार के निनाद से सारा नम-मण्डल पूँज उठा। पुष्ट-वृष्टि की सुगन्धि से चारों और का बातावरण सुवासित हो गया। अकस्मात् जय जयकार की व्याप्ति सुनकर नगर के लोग आपस में पूछने लगे कि यह क्या है। किसी ने कहा—नगर के बाहर उद्यान में एक मुनिराज ने वर्षयोग धारण किया था, आज उनका योग समाप्त हुआ है, इसलिए देवों ने उनकी पूजा की है और जय जयकार कर रहे हैं। रात हो जाने के कारण लोगों ने प्रातःकाल के समय गुनिराज के दर्शन करने का निष्कवय किया। रात्रि के समय दुर्दुषि 'बाजों की आवाज सुनकर लोग आनन्द विभोर हो गये। प्रातःकाल होते ही वे फटपट मुनिराज के दर्शनार्थ चल पड़े, परन्तु उनके पहुँचने के पहले ही मुनिराज गुणधर वहाँ से बिहार कर चले गये थे तथा उनके स्थान पर विनयधर मुनिराज आकर विराजमान हो गये थे।

आवकों ने समझा कि ये ही वर्षयोग धारण करने वाले मुनिराज हैं। वे अत्यन्त भक्ति-भाव-पूर्वक उनकी स्तुतिवन्दना करते हुए कहने लगे—**ओं-स्वामिन्!** शत शत वन्दन, शत शत वन्दन। हे वर्षयोग धारण करने वाले महायोगी, हे परम तपस्वी! आप जैसे वीतरामी के दर्शन से चिरकाल के उपायित पाप नष्ट हो जाते हैं। आप परम बन्ध हैं जो इस तरह चार मास से एकासन से खड़े हैं।

विनयधर मुनिराज ने विचार किया यद्यपि मैं मासोपवासी और आत्मपनादि योग का धारक नहीं हूँ, तथापि यदि मैं यह सच्चाई प्रस्तुत करदूँ तो ये मेरी पूजा नहीं करेंगे। ऐसा विचार करके अपने मन के कपट को छिपाकर वे नेत्रों को बन्द कर अचल चित्र ध्यानस्थ से बैठे रहे। आवकगण पूजा करके चले गये।

उनके मन में थोड़ा-सा मायाचार था, जिसके परिणाम स्वरूप वे मरकर देव हुए। देवायु पूर्ण होने पर विलोक मण्डन नामक हाथी हुए। एक दिन रामचन्द्र का भाई भरत, सीता और विश्वामित्र के साथ जलकीड़ा कर रहा था। विलोकमण्डन हाथी खंभ को उखाङ्कर नगर में जलकीड़ा करते हुए उस सरोवर के पास पहुँचा और भरत को देखते ही उसे जातिस्मरण हो गया। अब वह अपने पूर्व-भव में किये हुए मायाचार पर पश्चात्तप करते लगा—अहो! मैं और यह भरत एक ही साथ तत्पञ्चरण करने वाले हैं, परन्तु ख्याति और दूजा लोभ के लिए मायाचार करने के कारण मैं हाथी के रूप में पैदा हुआ हूँ।

तदनन्तर ब्रत भारण करके उस हाथी ने समाधिमरण किया और फिर से उत्तम गति प्राप्त की।

थोड़ा-सा मायाचार भी भयंकर दुखों को देने वाला है। तिर्यंच योनि का कारण है। माया, मिथ्या और निदान—ये तीन शब्द हैं। जिस प्रकार शब्द निरन्तर चुभती रहती है उसी प्रकार माया-शब्द भी निरन्तर चुभती रहती है। इस माया-शब्द से एक क्षण के लिए भी शक्ति नहीं मिलती और परमभव में भी वह महादुख देने वाली है।

पुष्पदत्ता की कथा

पतनपुर नगर के राजा पुष्पचूल थे। अपने मस्तक के संफेद बाल की देखकर वे संसार के भोगों से बिरक्त हो गये। जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके वे धोर तपश्चरण करने लगे। उनकी राती पुष्पदत्ता ने सोचा—जब हमारे पतिदेव ने दीक्षा ले ली है तो मुझे भी दीक्षा ले लेनी चाहिए। और उसने भी आधिका ब्रह्मिला के पास जाकर दीक्षा ले ली। परन्तु उसके हृदय में किंचित् मात्र भी वैराग्य नहीं था। वह दिन भर अपने शरीर का शुभंगार करती थी और शरीर पर सुग्रन्थित तैल लगाती थी। एक दिन आधिका ब्रह्मिला ने उससे कहा—यह तुम्हारे करने योग्य नहीं है। वह सुनकर पुष्पदत्ता ने कहा—मेरे शरीर में स्वाभाविक सुग्रन्थ है, मैं तैल नहीं लगाती। इस मायाचारं के कारण वह मरकर एक सेठ की दासी-पुस्ती हुई। उसके शरीर से दुर्ग्रन्थ आती थी। इसीलिए नगर के सारे लोग उससे दूरपा करते थे। और उसको आयत्त हैव दृष्टि से देखते थे। थीक ही है—जो अपने गुरु के साथ मायाचार करते हैं उनको ऐसी ही दशा होती है। अतः कभी मायाचार नहीं करना चाहिए। आर्यवंशाव धारण करके मायाचार से सर्वथा दूर रहा चाहिए।

माया-शब्द हृदय में कील के समान चुभती रहती है। मायावी मनुष्य निरन्तर शक्ति रहता है। मायाचार कहीं प्रगट न हो जाय—इस भय से वह सदा भयंकर रहता है।

एक राजा और वेश्या की कथा

एक दिन एक राजा जंगल में एक जामुन वृक्ष के नीचे बैठकर पाखाना करने लगा। भूमि पर पस्थिक जामुन गिरे हुए थे जिन्हें देखकर उसके मुँह में पानी भर आया। निर्जन इथान देखकर उसने एक जामुन उठाकर मुँह में रख लिया। पर कहीं किसी ने देख तो नहीं लिया—यह भय उसके मन में समा गया। वह अपनी राजधानी लौट आया। एक दिन राज्यसभा में एक वेश्या



राजदरबार में वेश्या-लतन की बतिया बताय देऊँगी—गाना गाते हुये।

नृत्य करती हुई गाने लगी—‘ललन की बतियां बताय देऊँगी’। यह सुनते ही राजा शक्ति हो सोचने लगा—हो न हो, इसने मुझे जामुन खाते देखा है। कहीं सबके सामने कह न दे—ऐसा सोचकर उसने अपने कंठहार उतार कर उसे दे दिया। दूसरे दिन भी उस वेश्या ने वही गाना फिर गाया तो राजा ने अपने कुण्डल दे डाले। वेश्या ने वर जाकर सोचा—राजा को यह गीत शावद बड़ा अच्छा लगता है। इसीलिए प्रसन्न होकर वह इतने बहुमूल्य आभूषण मुझे उपहार में देता है। इसलिए राज्यसभा में वह सदा वही नीत गाने लगी और राजा से प्रत्येक दिन कोई न कोई उपहार प्राप्त करते लगी। जब राजा आभूषण देते-देते तंग आ गया तो एक दिन आवेश में कह वैठा—बड़ा प्रतिदिन ‘ललन की बतियां बताय देऊँगी’ की रट लगा रखवी है। कहना है तो कह दो। पाखाना करते समय जामुन खाकर मैंने कोई बहुत बड़ा अनश्वर नहीं किया है। वेश्या यह सुनकर चुप ही गयी। राजा का शक्ति मन भी अब निश्चक हो गया।

माया के सद्द्वाब में ही मानव दुःखी होता है। मायाचारी का तप, ब्रत, धर्म-सब निस्सार है। जो मानव मायाचार करके पापाजन करता है उसका वह पाप कुट्टरोग के सद्ग स्वर्ण ही प्रगट हो जाता है। निष्कपट परिणामों के समान इस विवर में कोई भी प्रशंसनीय वस्तु नहीं है और मायाचार के समान निनदनीय परार्थ नहीं है। कपटी मानव का ब्रत-पालन, दान, पूजा तीर्थायन आदि करना

निष्कल है। जो दूसरों को मायाजाल में फँसाने का प्रयत्न करता है वह स्वयं उसमें फँस जाता है जो दूसरों के लिए गड़ा लोदता है वह स्वयं नके के गम्भीर गड्ढे में गिरता है। आर्जव-भाव आत्मा का स्वभाव है और माया-कथाय आत्मा का विभावभाव है। आर्जव-भाव स्वर्ग का सोपान है, पापों का क्षय करने वाला है, शिवपुर का प्रशस्त राजमार्ग है, अतिद्विद्य सुख का कारण है, प्रमात्मा का मुखद स्वरूप है, आत्मा का परम हितकारी मित्र है और विचास का मन्दिर है। आर्जव धर्म आत्मा का शाश्वत धर्म है। जो आर्जव-धर्म को पारण करके निरन्तर इसका ध्यान करता है वह अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

कपट-कटार से गरोबन का गला काटि,
पाप की कमाई कहो के जनम खायेगा।
घोले छल छिद्र ब्लैक मारकेट से घसीट,
लाख कोड़ि जोड़ि जोड़ि साथ न लेजायेगा।
हरिम आजाय खूब रिश्वत हूँ खाय देय,
जेल में पठाय उन्ह सारी दुख पायेगा।
तारे छल छिद्र छोड़ि कपट-कटार तोड़ि,
आर्जव से श्रीति जोड़ धरसी कहलायेगा।

मिथ्यात—झूँपी मरीचिका से व्याप्त, क्रोधरूपी भीषण उष्ण वायु से परिपूर्ण, दुख-समृह झूँपी तासे आकुलित एवं तुष्णा-झूँपी व्यास से आकुल-व्याकुल होकर नष्ट हुए अनन्त जीवों से भरे हुए इस संसार-झूँपी मरुस्थल में भटकते हुए संतत जीवों को चैतन्य स्वभाव झूँपी मुग्धित मुझों से मुशोभित एवं सम्प्रवत्तरूपी निर्मल जल की बावड़ी से युक्त आर्जव-भाव झूँपी विश्राम प्रदायक वाटिका का आश्रय लेना चाहिए।

यह संसार मिथ्यात्व के प्रबल अन्धकार से व्याप्त एवं विषय-वासनाओं की दुर्गम्बिति से तुर्क मायाजाल-रूपी स्तम्भों पर असत्य-रूपी गारे से निर्मित मुद्रुक कारण्यहूँ के समान है जिसमें सांसारिक प्राणी अपनी कर्मयुक्ति लाला से बचे हुए पढ़े हैं। पंच महापाप इस कारण्यहूँ पर दिन-रात पहरा देने वाले प्रहरी के समान हैं। इस संसार-कारण्यहूँ से मुक्ति पाना बहुत ही कठिन है। आर्जव-धर्म ही इससे मुक्ति दिला सकता है। अतः संसार-कारण्यहूँ से खुटकारा पाने के इच्छुक प्राणियों को अपने हृदय में उत्तम आर्जव धर्म गहराय करना चाहिए।

आर्जव भाव आत्मा को पवित्र बनाता है। यह साक्षात् संवर और निर्जरा का कारण है, आत्मन को रोकने वाला है। यह पूर्वपापित कर्मों सी निर्जरा का कारण है, कर्म-पर्वत का भेदन करने के लिए बच्चे के समान है, संसार समुद्र से तारने के लिए नौका-तुल्य है, पापों का प्रक्षालन करने के लिए निर्वत जलधारा है,

२६]

और छल-कपट झूँपी सर्प को नष्ट करने के लिए गारुड़ी महामन्त्र है। इसलिए आर्जव-भाव धारण करके सरल स्वभावी बनना चाहिए।

धर्महृ वर्ण लक्षणु अज्जड़ थिर मणु दुरिय विहंडु चुह जणु ॥
तं इत्य जि किञ्जइ तं पालिञ्जइ तं ऐ सुणिञ्जइ खय जणु ॥

आर्जव धर्म का सर्व श्रेष्ठ लक्षण है, मन को स्थिर करने वाला है, पाप नाशक है, सुख को उत्पन्न करने वाला है, पापों का क्षयकारी है इसलिये हे आत्मन् इसी आर्जव धर्म का आचरण करो, उसी का पालन करो और उसी का श्वरण करो।

जारिसु रिणय चित्रि चितिञ्जइ, तारिसु अणणहुं पुणु भासिञ्जइ ।
किञ्जइ पुणु तारिसु चुह संचणु, तं अज्जड़ गुणु मुणाहु अवेचणु ॥

अपने मन में जैसा विचार हो वैसा ही दूसरों से बचन से कहो उसी प्रकार की काय की चेष्टा करो यही सुख देने वाला निश्चल धर्म है।

माया सलु मणहु गिस्सारहु, अज्जड़ धर्मु पवित्रु वियारहु ।
वउ तउ मायावियहु एगिरथउ, अज्जड़ सिव पुर धंथहु सत्थउ ॥

यह धर्म कुटिल भाव का त्याग करने से प्राप्त होता है यह आर्जव धर्म अखण्ड दर्शन और जान रूप है तथा परम अतीद्विद्य सुख का सिद्धारा है।

जत्य कुडिल परिमाणु चइज्जइ, तर्हि अज्जड़ धर्मु जि संपञ्जइ ।
दंसण राण सरव अखंड, परम अतीद्विद्य सुख कर्डउ ॥

अन्तःकरण से माया शत्य को निकालकर पुरीत आर्जव धर्म का मनन करो क्योंकि मायावी पुरुष के ब्रत संयम नियम तप सब निरर्थक हैं। आर्जव धर्म ही शिवपुर का प्रशंसन मार्ग है।

अप्यन्त अप्यउ भवहु तरडउ, एरिसु चेयण भाव पवंडउ ।
सो पुणु अज्जड़ धर्मै नवभद्र, अज्जवरण बइरिय मणु खुब्जई ॥

आर्जव स्वयं आत्मा को भव समूह से तारने वाला है प्रचण्ड चैतन्य धर्म से भाव आर्जव धर्म से प्राप्त होता है आर्जव धर्म वैरियों के मान को लेंडित करता है।

अज्जड़ परमपृष्ठ गय संकप्तउ चिम्मितु जि सासउ अभड ।
तं ऐरु भाउज्जइ संसउ द्विज्जइ पाविज्जइ चिम्मितु जि सासउ अभड ॥

आर्जव धर्म परमात्म स्वरूप है संकल्प रहित है, चैतन्य स्वरूप है, आत्मा का मित्र है, शाश्वत है, और अभयरूप है। जो मानव इस आर्जव धर्म का ध्यान करता है वह अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

॥ उत्तम आर्जव धर्म की जय ॥

[२६]

उत्तम सत्य धर्म

सत्यु प्रशस्तेतु जनेषु साधु वचन मित्युच्युते । (सत्यर्थ)

अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना सत्य है ॥

सत्यु दिगम्बरेषु महामुनिषु तदुपासकेषु च श्रेष्ठेषु लोकेषु साधु यद्वचनं
तत्सत्यमित्यमिलपत्ते । (तत्त्वर्थ त्रुति)

दिगम्बर साधुओं में उनके उपासकों में और श्रेष्ठ लोकों में जो (प्रशंसनीय)
वचन बोला जाता है वह सत्य वचन है ।

यद्यपि सत्य महाब्रत भाषा समिति आदि में भी सत्य वचन है तथापि
लक्षण भेद में इनमें भेद है । अथर्व भाषा समिति के अनुसार प्रवृत्ति करने
वाला मुनि साधु और असाधु दोनों प्रकार के मनुष्यों में भाषा व्यवहार करता
है—हितकारी परिमित वचन बोलता है । अयथा राग होने से अनर्थदंड का
दोष लगता है । सत्य महाब्रत वाला अपने शिष्यों के साथ ही भाषण करता
है । तथा शिष्यों को समार्पा में लगाने के लिये कठोर वचन का भी प्रयोग
करता है ।

और सत्य धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि सज्जन पुष्ट दीक्षित
तथा उनके भक्तों के साथ प्रशंसनीय सत्य वचन बोलता है ।

राग द्वेष के मोह के बशीभूत होकर वचन नहीं बोलना ही सत्य है ।

अथवा ऐश्वर्य, हास्य कर्कश परनिन्दा और निन्दा और आत्म प्रशंसाकारी
वचनों का मुख से उच्चारण नहीं करना ही सत्य धर्म है । सत्य वचन की
महिमा अगम्य है । सत्य लोक में सारभूत वस्तु है । सत्य महासंदृढ़ से भी अधिक
गंभीर है, मेह पर्वत से भी अधिक स्थिर है । चन्द्रमंडल से भी अधिक सीम्य
है । सूर्य मंडल से भी अधिक तेजस्वी है । शरकालीन आकाश से भी अधिक
निम्नल है तथा गंध मादन पर्वत से भी अधिक सौरभवान है । संसार की समस्त
बहुश्रूप वस्तुओं एक तरफ है और सत्य एक तरफ है । इसलिये तो आचार्यों

३०]

ने सत्य धर्म भाषा समिति महाब्रत आदि के भेद से तीन प्रकार से वर्णन किया
है । सत्य के बराबर संसार में कोई वस्तु नहीं है ।

उच्तंच—

तादित सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ।

स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥

अथात् सत्य से बढ़ कर कोई धर्म नहीं और भूत से बढ़ कर कोई पाप नहीं
है । सत्य ही धर्म की आशार-शिला है । अतः सत्य का लोप न करें ।

विद्यज्ञन भूठ बोलने के त्याग को सत्य कहते हैं । सत्य-संभाषण ही प्राणियों
को निःशंक बनाता है । सत्यवचन से संसार में मानव की धवल कीर्ति का प्रसार
होता है और असत्यभाषण से अपकीर्ति फैलती है । असत्यवादी का इस लोक में
अपमान होता है और परजोक में वह दुर्गति की प्राप्त होता है । वसु राजा भूठ
बोलने मात्र से नरकपति को प्राप्त हुआ ।

राजा बसु की कथा

स्वरितकावती नामक नगरी में क्षीरकदम्ब नाम के एक सरल स्वभावी
प्रकाण्ड विद्वान् उपाध्याय थे । उसके समीप अनेक छाव विद्याध्यन करते थे
जिनमें उनका पुत्र पर्वत, सेठ पुत्र नारद और राजपुत्र वसु प्रभुत्व थे । इन तीनों
में परस्पर अपार स्नेह है था । एक दिन सदाचारी जानी क्षीरकदम्ब अपने इन तीनों
शिष्यों के साथ स्वर्णगिरि की गुफा में स्फटिक मणि की निर्मल शिला पर
आरोन होकर स्वाध्याय कर रहे थे तथा सिद्धान्त सूत्रों की अत्यन्त मधुर स्वर में
व्याख्या करके अपने शिष्यों को समझा रहे थे । उसी समय अमितमति और
अनन्तमति नामक दो चारणाकृदिग्दारी ऋषिवर आकाश से उतर कर त्रहा आये ।
अपने शिष्यों के साथ जात्वा से श्रुताभ्यास करते हुए क्षीरकदम्ब को देख कर
अनन्तमति बोले अहो ! ये लोग निरिक्षित रूप से भव्य हैं और शीत्र ही मोक्षगामी
हैं । यह सुन कर अमितमति ने कहा—हे शिष्य तुम्हारा कहना कुछ अंश तक
ठीक है परन्तु इनमें से दो नरकगामी हैं और दो उच्छवगामी । अपने शान्त रूपी
नेत्रों द्वारा बहायाए को प्रकाशित करते वाले क्षीरकदम्ब का हृदय मुनिगों के इस
कथन को सुनकर काँप उठा । अपने शिष्यों को घर में तकर वे प्रविलम्ब मुनिगाज
के पास गये और भक्ति पूर्वक नमस्कार करके बोले—गुरुदेव ! हममें कोन नरक-
गामी हैं और कौन उच्चगामी हैं ?

अमितमति ने कहा—हे क्षीरकदम्ब ! राज्य लक्ष्मी के मद से मदोन्मत्त
असत्यवादी राजा वसु और आस्त्रों के त्रयी को निरूपण करते वाला तुम्हारा

[३१]

पुत्र पर्वत नरकगामी हैं। श्रावक के बात एवं सम्यदर्शन-रुपी ग्रामभूषण से विभूषित सेठ-पुत्र नारद और सुम उद्घवंगमी हो।

युनिराज के मुख से वह बात सुनकर क्षीरकदम्ब को संसार एवं शरीर के असार भोगों से विरक्त हो गयी। अतः उन्होंने गुरु की साक्षी में नीलमसि के समान अपने काले कोंकों का अपने हाथों से लोंच करके दिगम्बरी दीक्षा ले ली। अन्त में समाधिमरण कर वे स्वर्णगमी हुए।

उधर पर्वत प्रपने पिता के स्थान पर उपाध्याय बनकर लड़कों को पढ़ाने लगा। एक दिन नारद बस्तावि उद्धार लेकर पर्वत-विद्याग से दुःखित चित्तवाली माता सदृशी गुणली तथा गुण-भाइ पर्वत को देखने के लिए आया। मुहुरत्ती का कुशल क्षेत्र पूँछकर वह पर्वत से भिलने के लिए तत्काल उसकी पाठ्याला जा पहुँचा। संयोग से पर्वत उस समय अपने छात्रों को "अर्जेयट्ट्यम्" का बकरे की बलि द्वारा यज्ञ करना चाहिए—ऐसा विपरीत अर्थ समझ रहा था। नारद ने उसे टोकते हुए कहा—हे विद्वान् पर्वत! ऐसी विपरीत व्याख्या मत करो। अज का अर्थ है—ऐसा व्याख्या जिसमें अंगुर उपसर द्वारा होने की शक्ति न हो। अतः "अर्जेयट्ट्यम्" का अर्थ होगा—तीन वर्ष पुराने धान्य से शान्ति अथवा पुष्टि कार्य के लिए यज्ञ करना चाहिए। हे मित्र! हमारे परम ज्ञानी गुरु ने हमें यही अर्थ समझाया था। अपने पिता के स्थान पर उपाध्याय बनकर इस प्रकार अर्थ का अनन्य करना तुम्हें शोमा नहीं देता। लगता है तुम्हारी तुद्धि विपरीत हो गयी है। मित्र की बात सुनकर पर्वत ने कहा—हे नारद! मेरी यह व्याख्या सर्वथा संगत है। यदि तुम इसस्त्रय एवं असंगत प्रमाणित कर दो तो जिह्वालज्जन भेरे दण्ड हो।

नारद ने कहा—परन्तु हमारे इस विवाद का निरांय कौन करेगा? इस पर पर्वत ने कहा कि हमसे वाद-विवाद का निरांय न्याय प्रिय राजा बसु करें, और हम कल ही उनकी सभा में उपस्थित होकर इस सत्याकृत्य का निरांय जान लें।

क्षीरकदम्ब की पत्नी व पर्वत की माता ने जब यह बात सुनी तो पर्वत को बुलाकर उसे समझाते हुए कहा—वेटा! ऐसा विपरीत अर्थ करना नरकगति का कारण है। इस विपरीतता को छोड़ दो, अन्यथा तुम नरक के भागी बनोगे। परन्तु पर्वत ने अपनी साँ का कहना नहीं माना। वह अपने हठ पर ब्रह्मा रहा। ठीक ही है जब विनाश काल आता है तो तुद्धि अष्ट हो जाती है, विनाशकाले विपरीत तुद्धि।

पर्वत की माता जानती थी कि उसका पुत्र असत्य बोलता है और उसका धक्का लेना दुर्भागी का कारण है। परन्तु पुत्रमोह के कारण वह राजा बसु के

पास गयी और कहने लगी—हे पुत्र! एक बार तूने मुझे वर दिया था, आज मैं वह वर मांगने आयी हूँ।



न्यायप्रिय एवं सत्यवादी राजा के सामने पर्वत और नारद अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुये।

न्यायप्रिय एवं सत्यवादी राजा बसु ने कहा—मात! आप जो भी चाहें माय सकती हैं। मैं अपना सर्वस्व देने का तैयार हूँ। इस पर पर्वत की माता ने कहा—कल तुम्हारी सभा में पर्वत और नारद का वाद-विवाद होगा। यद्यपि पर्वत का पक्ष निर्बल है, पाप का पोषक एवं दुर्भागी का द्वार है, सत्यापि मेरे पुत्र की रक्षा के लिए तुम्हें पर्वत के पक्ष में ही निरांय देना पड़ेगा।

यह सुनकर राजा बसु का हृदय कांप उठा। वह बहुत बड़ी दुविधा में फँस गया। अपने मन में विचार करने लगा—अब क्या करूँ। यदि अपने वचनों की रक्षा न करूँ तो धोर कलंक का भागी बनता हूँ और यदि अपने वचनों की रक्षा के लिए पर्वत का पक्ष लेता हूँ तो नरक के गर्त में मेरा पतन अवश्यम्भावी है। एक तरफ यदि कुँग्रा है तो दूसरी तरफ खाई है। क्या कलौं, कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। परन्तु उसे नरक में जाना था। अतः अन्त में उसने गुह-पत्नी को पर्वत की रक्षा का वचन देकर निवारा किया।

दूसरे दिन राजा बसु ने नारद और पर्वत उपस्थित हुए। उनमें से प्रत्येक ने सबल तर्ह देते हुए राजा के सामने अपना-अपना पक्ष रखा। दोनों ही राजा के निरांय की प्रतीक्षा करने लगे। पर्वत का हृदय कुछ कुछ आशकित-सा,

था परन्तु नारद को पूरा विश्वास था कि न्यायनिष्ठ राजा बसु का निर्णय अवश्य ही भेरे पक्ष में होगा। परन्तु बचन-बद्ध होने के कारण राजा बसु ने पर्वत के पक्ष में अपना निर्णय दिया। असत्य के पक्ष में ज्योंही उसने अपना निर्णय सुनाया, ख्योंही उसका सिहालन पृष्ठी में वैस नया और चारों ओर हा हा कार मच गया। नारद ने कहा—अर्थे दुष्ट राजन्! पाप का पक्ष लेकर नरक क्यों जाना चाहता है? सत्य का पक्ष ले। परन्तु राजा ने नारद की बात पर कोई व्याप्त नहीं दिया। वह अपने निर्णय पर अटल रहा और अन्त में मरकर नरक गति की प्राप्त हुआ। सत्य ही है, असत्य का पक्ष ग्रहण करके कौन सुख और शान्ति पा सकता है।

असत्य का फल दुःखदायी होता है। असत्यवादी सबके द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाता है। कोई भी उसका विश्वास नहीं करता। असत्य की उत्पत्ति अज्ञान और मोह से होती है। इसी असत्य का पक्ष ग्रहण करने के कारण राजा बसु नरक में गया और उसकी ध्वनि कीति आगे भी कलंकित है। इस लिए असत्य का परित्याग करके सत्य को स्वीकार करना चाहिए। जो सत्यवादी है उसके हिंसादि पाप अनायास ही छढ़ जाते हैं। सत्य बोलने से आत्मा में पवित्रता आती है। सत्यवादी को आत्म सुख और आत्म शान्ति की प्राप्ति होती है। परलोक की बात जाने दीजिए, इस लोक की समस्त व्यवस्था सत्य की नीति पर ही अवलम्बित है। इस संसार में असत्यवादी का कोई मूल्य नहीं है।

पावक ते जल होय वारिवि ते थल होय,
शस्त्र ते कमल होय धाम होय बन ते।
कूप ते विवर होय पर्वत ते घर होय,
वासव ते दास होय हितु दुर्जन ते।
सिंह ते कुरंग होय व्याल स्याल अंग होय,
विष ते पिण्यू होय माला व्रहि कन ते।
विषम ते सम होय संवट न व्यापे कोय,
ऐते गुण होय सत्यवादी के दर्शन ते॥

सत्य धर्म संसार-समुद्र से पार उतरने के लिए जहां के समान है। सत्य के बिना मानव निश्चय से भवसागर में डब जाता है। यदि संसार से सत्यधर्म विलोप हो जाय तो संसार की समस्त व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाय। गदि सत्य-रूपी पुष्प से चित्त सुविषित न हो तो जप, तप, व्रत आदि का करना निष्प्रयोजन है। असत्य-रूपी सर्वे के विष से मूर्च्छित मानव के हृदय में उत्तम भाव क्षणाभर भी नहीं छहर सकते। उत्तम-सत्यरूपी अलकार से विभूषित मानव निन्दा-रूपी दावानल से कभी सन्ताप को प्राप्त नहीं होता।

सत्य धर्म के प्रसाद से सहज ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। स्वर्गादिक भोग भी सत्य के प्रताप से अनायास ही सुलभ हो जाते हैं। संसार में सत्य के समान कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है। आत्म कल्याण के लिये भक्ति सहित सत्य धर्म को अपनाना चाहिए।

उत्तम सत्य विश्वास का परम पुरीत घर है विपत्ति का नाशक है, मुक्ति का पायेय है श्रीर व्याघ्र संपादिका स्तम्भन करने वाला है। सत्य के प्रभाव से अग्नि का जल और जल का स्थल रूप परिशात हो जाता है, संसार की दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है। सत्य ही संसार की सार-भूत वस्तु है। भव-समुद्र से पार उतरने के लिए तरणिवत् सहायक है। यह सत्यधर्म चन्द्रमा से भी अधिक शीतल एवं सौम्य है, सूर्य-मण्डल से भी अधिक प्रभावान् है, शरकालीन आकाश से भी अधिक निर्मल है और गन्धमादन पर्वत से अधिक सुरभि सम्पन्न है। सत्य की महिमा अगम्य और अनन्त है। आत्म-कल्याण के इच्छुक मानव को सदा सत्य का व्यवहार करना चाहिए।

सत्यमेव जयते

सत्य की सदैव विजय होती है

सत्य धर्म

असत्य द्वारा सर्वं वाचा सर्वं हितावहम्।
पूजया परया भक्त्या पूजयामि तदाप्तये॥

असत्य से रहित और संबोध किए जाने वाले सत्य वचन की में उसकी प्राप्ति के लिए भक्तिपूर्वक बड़ी विभूति के साथ पूजा करता है।

विष धम्महु कारणु दोष एत्वारणु इह भवि पर भवि मुक्त्यत्।
सञ्चु जि वयगुललउ भुवरिण अतुललउ बोलिजजइ वीसासपद॥

सत्यधर्म दयाधर्म का कारण है दोषों का निवारण करने वाला है तथा इस लोक में और परलोक में सुख को देने वाला है। विषमें रात्यवचन तुलगा रहित है अर्थात् इसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता। इसे विश्वास के साथ बोलना चाहिये।

सञ्चु जि सब्वहं धम्महं पहाणु, सञ्चु जि महियलिगरु विहाणु।
सञ्चु जि संसार समुह सेक्त, सञ्चु जि सब्वहं गण सुखल हेतु॥

सत्य सब धर्मों में प्रधान है, सत्य महीतत पर सबसे बड़ा विद्यान है, सत्य

नित्य से संसार समुद्र से तारने के लिये पुल के समान है सत्य सब जीवों के मन में सुख उत्पन्न करने का हेतु है।

सच्चेरा जि सोहइ मणुव जम्मु, सच्चेरा पवसउ पुण्णा कम्मु ।
सच्चेरा सबल गुए गरा महंति, सच्चेरा तियस सेवा बहंति ॥

सत्य से मनुष्य जन्म शोभा पाता है सत्य से ही पुण्यकर्म प्रवृत्त होता है सत्य से सब गुणों को समुदाय महानता को प्राप्त होता है और सत्य के कारण ही देव सेवाकर श्वीकार करते हैं।

सच्चेरा अपुण्डवय महवयाइं सच्चेरा विशासइ आवयाइं ।
हियमिय भासिज्जइ यिच्च भास, रा, वि भासिज्जइ पर दुउपयास ॥

सत्य से अगुवत और महावत प्राप्त होते हैं और सत्य से आपदाएँ नष्ट हो जाती हैं। सदा द्वित मित बचन बोलना चाहिये। जिनसे दूसरों को ढुक्ख हो ऐसे बचन कभी नहीं बोले।

पर बाहा यह भासहु म भदु, सच्चु जि तं छंडहु विगम गन्तु ।
सच्चु जि परमापउ अथि इक्कु, सो भावहु भवतम दलण अकु ॥

हे भव्य दूसरों को बाधा करने वाला बचन कभी मत बोलो। यदि वह सत्य भी हो तो गर्वरहित होकर उसे त्याग दो। सत्य ही एक मात्र परमात्मा है। वह भवल्ली अधिकार का दलन करने के लिये सूर्य के समान है। उराकी निरन्तर आराधना करो।

“है विज्जइ मुणिणा वयण मुत्ति, जं खणि फिट्टु संसार अत्ति
मुनि बचन गुप्ति का निरोध करते हैं। वह क्षणमात्र में संसार की पीड़ा का अन्त कर देती है।

सच्चु जि धम्म फलेरा केवलणाणु लहेइ जणु ।
तं पालहु भी भव्य भणहु म अलियउ इह वयणु ॥

मनुष्य सत्यधर्म के फलरब्लूप केवल ज्ञान को नियम से प्राप्त करता है। है भव्य! उसका पालन करी और लोक में अलीक बचन मत बोलो।

॥ उत्तम सत्य धर्म की जय ॥



उत्तम शौच धर्म

प्रकर्ष प्राप्त लोभान्न वृत्ति शौच । प्रकर्ष लोभ की निवृत्ति शौच है। उत्कृष्टता समागत गाढ़र्य परिहरण शौच मुच्यते ॥ (तत्वार्थवृत्ति)

लोभ या गुदता का त्याग करना शौच धर्म है। अथवा संतोष का नाम शौच धर्म है। यह संतोष का नाम परिणाम स्वयं में स्वयं का ही है। यह शौच संतोष का स्रोत स्वयं से ही निकलता है। जिस समय यह जीव सर्व सांसारिक पदार्थों से विरक्त होकर ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र निजतत्व की सुध लेता है तब महता और अहंकार का लोभ खत्म हो जाता है उस स्थिति में यह संतोष यामने आप प्राप्त होता है। संसारिक वस्तुओं की इच्छायें मानव को आकुलित बनाती हैं।

आशा गर्तः प्रति प्राणि यस्मिन विश्वमरणपम् ।
कस्य किं कियदायाति दृथा को विष यैथिता ॥

संसारी प्राणियों का आशाहीं गहडा अत्यन्त गहरा है यदि तीन लोक की सम्बद्धी भी प्राप्त हो जाय तो आशा पिण्ड नहीं छोड़ती। सारे संसारी प्राणी आशा की जंजीर से जकड़े हुये हैं। आशा को छोड़ने वाले ही महापुरुष होते हैं। आशा रूपी अभिन की शांति संतोष से ही होती है। इसलिये संतोष ही महाधर्म है।

तीन लोक की सम्पदा प्राप्त होने पर भी मानव सुखी नहीं होता है। परन्तु जिसके पास संतोष रूपी बन है वह निर्वैन भी सुखी है। अथवा शूच शोके=शुच धातु शोक सर्वां अर्थ में आता है।

शूचि पवित्रं करोति शुचयति इति शूचिः अग्निः ।
जो मलीनता को हटाकर पवित्र करे उसको शूचि कहते हैं।
यद्वा शोचति अन्तर्भावितव्याथं च्छुचेः ।
अथवा शूचि शीघ्रान्विन शृंगारेवापाठे शुद्ध मन्त्रिणि
ज्येष्ठे च पुंसि धवले शुद्धं ज्ञुपहरते त्रिषु ॥

शुच आतु अनेक ग्रार्थ में है। उसमें जो पवित्र करता है वह शुच का शौच बनता है। जिस प्रकार अग्नि सुवर्ण की कालिमा का नाशकर शुद्ध करती है इसलिये शुचि है। उसी प्रकार जो आत्मा को शुद्ध करता है पवित्र बनता है वह शुचि है।

लौकिक और लोकोत्तर शुचि में भेद से शुचित्व दो प्रकार का है। काल, अग्नि, भस्म, सृष्टिका, गोबर, पानी आदि के भेद से लौकिक शुचि अनेक प्रकार की है।

काल शुद्धिः—निश्चित काल के उपरान्त जो शुद्धि होती है उसे काल शुद्धि कहा जाता है। जैसे मासिक धर्म वाली स्त्री चार दिन तक अयुद्ध है, तत्पश्चात् शुद्ध होती है। प्रसुति वाली स्त्री 45 दिन बक अशुचि है, उसके बाद शुद्ध होती है। सूतक वाले के 12 दिन तक तथा जन्म वाले के 10 दिन तक अशुचि है, तदनन्तर ही शुचि होती है।

अग्नि शुद्धिः—बहुत में यदि कोई मांसाहारी भोजन कर ले तो अग्नि के द्वारा बर्तन को शुद्ध करना अग्नि शुद्धि है।

भस्म शुद्धिः—किसी वस्तु या पात्र को भस्म से मार्जन करके शुद्ध करना भस्म शुद्धि है।

मृत्तिका शुद्धिः—किसी वस्तु को मिट्टी से शुद्ध करना मृत्तिका शुद्धि है।

गोबरःशुद्धिः—आग्नेय आदि को गोबर से लीपकर शुद्ध करना गोबर-शुद्धि है।

पानी शुद्धिः—वस्त्रादि को पानी से धोकर शुद्ध करना पानी-शुद्धि है।

प्रायश्चित्त-शुद्धिः—किसी कारणवश जरों में द्रवणा लग जाने पर प्रायश्चित्त लेकर उसकी शुद्धि करना प्रायश्चित्त शुद्धि है।

यद्यपि यह लौकिक शुचि व्यवहार धर्म है, व्यवहार में मान्य है, व्यवहार धर्म की सहायक है, परन्तु यह शौच-धर्म नहीं है, क्योंकि इससे आत्म-विशुद्धि नहीं होती है।

कर्म-कर्तक से रहित आत्मा का अपनी आत्मा में स्थिर होना लोकोत्तर शुचि है। आत्म-विशुद्धि के कारणाभूत सम्यदर्शन, सम्यज्ञान और सम्पूर्ण-चारित्र तथा इन गुणों के धारक साधु लोकोत्तर शुचि के अन्तर्गत आते हैं। निरोण क्षेत्र आदि भी आत्म-परिणामों की मिर्मलता के कारण हैं, अतः उपचार से ये क्षेत्र भी लोकोत्तर शुचि में परिणित होते हैं।

‘प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचम्’—शर्यार्द लोभ कषाय की निवृत्ति शौच धर्म कहलाता है। अनादिकाल से हमारी आत्मा कर्मकालिमा से मरिन हो रही है। हिंसा, भूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की इच्छा-रूप पाप-प्रदृष्टि ही कर्मों के आत्मव का कारण है और परिग्रह की ममता का कारण लोभ है।

लोभमूलानि पापानि रसमूलानि व्याधयः।
स्नेहमूलानि शोकानि त्रीणि त्यक्त्वा मुक्तो भवेत्॥

श्रश्वत् पाप का मूल लोभ है, व्याधि की जड़ गरिष्ठ पदार्थों का सेवन है और शोक-सन्ताप का कारण स्नेह है। तीरों की छोड़ने वाला मानव सुखी होता है। आत्मा को मरिन करने वाले लोभ का परित्याग करने से सारे पापों का स्वतः त्याग होता है, आत्मा मिर्मल बनती है। अतः लोभ का त्याग करना शौच धर्म है।

अथवा ज्ञान-दर्शन उपयोगमय अखण्ड अविनाशी जन्म-मरण से रहित समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली शुद्ध सञ्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव करना शौच-धर्म है।

आत्मा को अपवित्र करने वाले काम, क्रोध, मान, मायादि विकारों को जीतना शौच धर्म है।

वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए परमगम का अनुभव करके ग्रन्तरंग मिथ्यात्व कषाय आदि मर्मों का प्रक्षालन करना शौच धर्म है।

धन की तुष्णा का त्याग करना, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना भी शौच धर्म है, क्योंकि धन का लोभी इन्द्रिय-विषय-लम्पटी मानव हिंसादि पापों में प्रदृष्टि करता है।

एक गांव में दो भाई रहते थे। उन दोनों में परस्पर अत्यन्त प्रेम था। दरिद्र होने के कारण धनोपार्जन के लिए वे विदेश गये। वहाँ उन्होंने प्रदुर धनोपार्जन किया। उन्होंने एक बहुत ही बहुमूल्य रत्न खरीदा। रत्न को देख कर बड़े भाई के मन में लोभ उत्पन्न हो गया। उसके मन में विचार आया कि छोटे भाई को मारकर मैं अकेला ही इस रत्न और प्रचुर धन का स्वामी क्यों न बन जाऊँ। लोभ की इस भावना के प्रबन्ध होने पर उसने अपने भाई को मार डाला।

राज्य के लोभ में आकर कौरवों ने पाण्डवों को मारने का भयंकर पड़यन्त्र रचा।

धन के लोभ के लिए मनुष्य भूठ बोलता है, दूसरों के साथ विश्वासघात करता है और हिंसादि पारों में प्रवृत्त होता है।

श्रीभूति आह्वाण की कथा

सिंहपुर नगर में श्रीभूति नाम का एक ब्राह्मण था। वह अपनी चतुराई से सदकों उतारा था। एक दिन सदाचारी धार्मिक प्रद्विति वाला भद्रमित्र नामक एक वर्षिक पुत्र उस नगर में व्यापार करने के लिए आया। उसके पास अनेक बहुमूल्य रत्न थे। उसने सोचा कि कुछ रत्न किसी के पास रखकर व्यापार के लिए आगे बढ़ना चाहिए। यदि दैवयोग से नीका हृब गयी तो पुनः यहाँ आकर इन रत्नों की सहायता से फिर व्यापार कर सकूँगा। ऐसा विचार कर वह किसी विश्वास योग्य व्यक्ति की खोज करने लगा। किसी महानुभाव ने बताया कि श्रीभूति आह्वाण सत्यवादी, व्यापशील धार्मिक पुरुष है, अपनी रत्न राशि उसे सोंकर आप निर्विचर हो सकते हैं। उसके समान सच्चा और नैतिकता-सम्पन्न कोई दूसरा व्यक्ति आपको नहीं मिलेगा। वर्षिक पुत्र ने श्रीभूति का विश्वास करके उसके बहाँ पांच रत्न रख दिये और द्व्यर्थ व्यापार करने के लिए अन्यत्र चला गया। पुण्योदय से प्रचुर धन कमाकर वह जहाज में बैठकर बापस लौट रहा था। उपर्याजित धनराशि को देखकर उसका हृदय आनन्द-सिन्धु में मम्त था।

यह संसार विषमताओं का स्थल है, परिवर्तनशील है एवं आपतियों का आसपद है। संसार के पवार्ष चपलावत् शरणमुग्र है। पुण्य-पाप के चरेटों से मानव का उत्थान-पतन होता रहता है। एक ही वर्षा में राजा रक और रंक राजा बन जाता है। काल चक्र की गति बड़ी विचित्र है। वास्तव लौटे समय भद्रमित्र का जहाज समुद्र में डूब गया। एक काष्ठ-खण्ड का सहारा पाकर वह किसी दरेह बड़ी कठिनाई से समुद्र के टट तक पहुँचने में सफल हुआ। अपार सम्पदा का धनी क्षण भर में निर्वन हो गया। धन-जन के दिनाश से उसका हृदय ग्राहिक सन्तप्त हो गया। शारीरिक कान्ति स्लान पड़ गयी। किसी तरह पद्य-याता करता हुआ तथा अपेक्ष कष्टों को भोगता हुआ वह अन्त में सिंहपुर पहुँच गया। उसकी अवस्था अत्यन्त दयनीय ही गयी थी। दिन भर भटकते-भटकते किसी तरह जब श्रीभूति से उसकी भूंठ हुई तो उसने अपने पांच रत्न वापिस मांगे।

प्रत्यन्त तीव्र तृष्णा से व्याप्त चित्त वाले श्रीभूति ने कहा—अरे दुरात्मन् भीन ! क्या तुम्हें कोई भूत-पिशाच लग गया है, अथवा तेरी कुद्दि अप्प हो गयी है ? लगता है किसी ने मत्र फूँककर तुम्हें पागल बना दिया है जो इस

प्रकार भुक्ते रत्नों की मांग कर रहा है। अरे दरिद्र ! कहाँ मैं और कहाँ तू ? कोई तुम्हारी बात सुनेगा तो हँसेगा। व्यर्थ की यह बकवास बन्द कर। मुझ पर यह भूठा दोष क्यों लगा रहा है, जानता है सारा नगर मुझ पर विश्वास करता है। चुनाप यहाँ से भाग जा, इसी में तेरी भलाई है।

पर भद्रमित्र अपने रत्नों के लिए रोता-चिल्लाता रहा। श्रीभूति उसे पकड़ कर राजदरबार में ले गया और राजा से बोला—हे देव ! यह दुष्ट मुझ पर रत्न हड्डपने का मिथ्या दोष लगाकर मुझे बदनाम करना चाहता है। अतः इसे उचित दण्ड दीजिए। श्रीभूति के वचनों का विश्वास करके राजा ने बेचारे निर्दोष भद्रमित्र को घब्बे के देकर बाहर निकलवा दिया। इसके बाद वह नगर के प्रमुख गणमान्य लोगों के पास जाकर अपना ढुकड़ा सुनाने लगा, पर किसी ने उसको बात का विश्वास नहीं किया। अन्त में सर्वेषां हताश होकर राजमहल के समीप वन्द-दुक्ष पर चढ़कर चिल्लाने लगा—श्रीभूति भैरों पांच रत्न नहीं लौटाता है। यद्यपि श्रीभूति पूर्व में भैरों में भैरों मिथ्या था, पर अब शत्रु बन गया है। मैंने ये रत्न उसकी धर्म-पत्नी के सामने उसे दिये थे। इस प्रकार वह लगातार छह महीने तक चिल्लाता रहा।

एक दिन राजा की रानी रामदत्ता अपने महल की छत पर चढ़कर नगर की शोभा देख रही थी। उस समय भी भद्रमित्र चिल्ला रहा था। उसको चिल्लाते हुए देखकर रानी ने अपनी सबी निपुणा से कहा—हे सबी ! न तो यह मनुष्य किसी भूत-पिशाच द्वारा गृहीत है और न इसका आवरण ही पागलों जैसा है। यह छह महीने से एक ही बात की रट लगा रहा है। ही सकता है यह श्रीभूति के द्वारा सच्चुच ही छला गया हो। किसी उपाय से सत्यास्त्र का निर्णय अवश्य ही होना चाहिए। ऐसा विचार कर रानी ने राजा की आग्ना लेकर श्रीभूति को आगे महल में झुलाया और उसके साथ जुब्रा लेलने लगी। पापोदय से श्रीभूति लगातार हारें लगा, यहाँ तक कि वह अपनी अंगूष्ठी, कण्ठहारा-दि देकर अपनी चतुर सबी निपुणा को श्रीभूति की पत्नी के पास भेजा और समझाते हुए कहा—जाकर श्रीभूति की पत्नी से कहना कि तुम्हारा पति अपने कपटाचार के कारण राजा के कारागृह में बन्दी है। वह भद्रमित्र के पांच रत्न मंगा रहा है। निपुणा ने रानी के कथनानुसार श्रीभूति की पत्नी के पास जाकर भद्रमित्र के रत्न मांगे। पहले तो उसने रत्नों के विषय में इनकार कर दिया। पर जब निपुणा ने श्रीभूति की अंगूष्ठी, यज्ञोपवीत आदि दिलाकर कहा—तुम्हारे पति देव ने कहा है कि मैं धोर संकट में हूँ। भद्रमित्र के रत्नों का रहस्य खुल गया है। अतः यदि तू मेरी सच्ची धर्मपत्नी है तो वर्षिक के रत्न निकाल कर दे दे।

आपने पति के यज्ञोपवीत को देखकर श्रीमूर्ति की पत्नी ने शीघ्र ही रत्न निकाल कर दे दिये। इस प्रकार श्रीमूर्ति की पत्नी से रत्न लाकर निपुणा ने रानी की सौंप दिये और रानी ने राजा को सौंप दिये।



भद्रमित्र अपने रत्नों के लिये लगातार चिल्लाता हुआ और राजा की रानी रामदत्ता अपनी सच्ची निपुणा से इस विषय पर बात करनी हुई।

राजा ने उन बहुमूल्य रत्नों को अपने खजाने के और भी ग्राहिक कीमती एवं अद्युत्त किरणों वाले रत्नों में मिलाकर भद्रमित्र से कहा—हे महाभान ! इन रत्नों में तुम्हारे रत्न हैं, उन्हें पदचानकर ले लो। निर्णीयी भद्रमित्र ने उस रत्न समूह में से अपने पाँच रत्न उठा लिए। यह देख कर राजा ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—हे भद्रमित्र ! तू वास्तव में भद्र, सत्यवादी, निलंबी और पुण्यशाली है। राजा ने उसकी सच्चरित्रता पर प्रसन्न होकर उसे बहुमूल्य उपहार देकर पुरस्कृत किया।

तत्पश्चात् श्रीमूर्ति को फटकारते हुए राजा ने कहा—हे धूर्त ! हे धन-लोभी दुराचारी ब्राह्मण ! हे ब्राह्मण-कुल-कलंक ! हे पाप की मूर्ति ! हे लोभ के विषधर नाग ! तुम्हारा यह यज्ञोपवीत शिष्ठ पुरुषों के मन-हृषी पक्षियों को वास्त्रने ने लिए तन्तुजाल के सडूश है। तुम्हारा यह अपराध अक्षम्य है।

तुम्हें मैं ऐसा दण्ड दूँगा कि भविष्य में कोई भी ऐसा कुकर्म करने का साहस न कर सके।

अन्त में राजा ने उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली। उसके शरीर पर दुर्घन्धयुक्त कीचड़ का लेप करके घटों के लघपर को माला वहनायी और जूतों का सेहरा बांधकर मुख काला किया तथा गहरे पर चढ़ाकर पूरे नगर में घुसाया और अन्त में नगर से बाहर निकाल दिया। सत्य ही है, लोभी मनुष्य की ऐसी ही दशा होती है। अतः लोभ कलाय का स्थाग करना चाहिए।

लोभ समस्त ग्रन्थों की जड़ है। लोभी मानव इस लोक में तो दुःख पाता ही है, परलोक में भी दुर्गति को प्राप्त करता है।

लोभी सेठ सागरदत्त की कथा

काम्पित्य नगर में सागरदत्त नामक सेठ रहता था। महालोभ-हृषी अग्नि में अपनी चित्तरूपी पिति को प्रज्वलित करने वाला सेठ यद्यपि वंश-परम्परा प्राप्त एक करोड़ एवं स्तोपार्जित अर्द्ध करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी था, तथापि बहुत ही कमपा था। उसके घर में मोटक आदि पक्वान की बात तो दूर रही, कभी साग भी नहीं बनता था, क्योंकि वह हमेशा यहीं सोचता था जियदि साग बनेगा तो तैल, मिर्च, मसाला आदि लच्छे होंगे और स्वाद के कारण अग्नि भी बहुत खाया जायेगा। यहीं नहीं, वह किसी के यहाँ कभी भोजन करने भी नहीं जाता था, क्योंकि एक तो इसरे के यहाँ बार-बार स्वादिष्ट भोजन करने से जिह्वा रस लोलुपी जाती है और दूसरे में जिसके घर भोजन करने जाऊँगा उसको भी अपने यहाँ भोजन करने के लिए बुलाना पड़ेगा। अपने घर के लोगों की वह भरपेट भोजन भी नहीं करने देता था। अपने नौकर-चाकरों को भी वह हमेशा यहीं कहता रहता था कि तैल, धी, नमक आदि के लिए चतुर मनुष्य को धन नष्ट नहीं करना चाहिए, बाजार से तैल, धी आदि खरीदने के बाद यह कहकर वापस लौटा देना चाहिए कि यह अच्छा नहीं है और बर्तन में लगे हुए तैल आदि से ही अपना काम चला लेना चाहिए। उसका यह भी कहना था कि शरीर को सुवासित करने के लिए बाजार से युग्मित तैल खरीदना मूर्खता है। शरीर को सुवासित करने के लिए धनवानों के बच्चों के सिर पर पर हाथ फेरना चाहिए जिससे उनके सिर पर लगे हुए तैल से अपना शरीर भी सुग्रिधि हो जायेगा।

व्याज वसूल करने के लिए जब वह धूमता हुआ तेलियों के मुहल्ले में जाता तो उनके घर में प्रवेश करके यह कहता हुआ खली का टुकड़ा उठा लेता कि यह खली तो बहुत ही अच्छी महक रही है। फिर घर जाकर कांजी के पानी

के साथ भात खाता था और बीच-बीच में खली को सूखता जाता था। खाना खाने के बाद मुख-सुगन्धि के लिए पीपल की छाल चबाया करता था।

एक बार नगर में सात दिनों तक सागरतार भयंकर वर्षा हुई। नदियों में बह आ गयी। नगर में चारों ओर पानी ही पानी दिखाई पड़ता था। बहुत ही शीत हवा वह रही थी। लोग घरों से बाहर नहीं निकलते थे। रात्रि के समय लोभी सेठ सागरदत्त एक लंगोटी पहनकर नदी के किनारे गया और नदी के प्रवाह में बह-बहकर आने वाली लकड़ियों को बाहर निकालने लगा। नदी किनारे ही राजा का महल था। विजयी के प्रकाश में महल की लिङ्गों से रानी ने उसे लकड़ियों बटोरते हुए देखकर अपने मन में सोचा—हो न ही, यह बेचारा कोई बहुत ही गरीब आदमी है। राजा से कहकर इसकी सहायता करनी चाहिए। रानी ने सागरदत्त राजा से कहा—हे राजन्! आप प्रजा-पालक हैं, गरीबों के रक्षक हैं। आपके नगर में एक अत्यन्त दरिद्र मनुष्य रहता है, आपको उसकी सहायता करनी चाहिए। रानी के कहने पर राजा ने उसे बुलाया और कहा—भद! लगता है तुम बहुत ही गरीब हो, अतः मैं तुम्हारी सहायता करना चाहता हूँ। बोलो, तुम्हें क्या चाहिए। इस पर सागरदत्त ने कहा—मुझे एक बैल चाहिए। राजा ने कहा—मेरी पशुशाला में अनेक बैल बैठे हैं, तुम्हें जो पसन्द है, ले जाऊँ। सागरदत्त राजा की पशुशाला में बैलों को देखकर वासिस आया और बोला—राजन्! मेरे घर पर जैसा बैल है तुम्हें तो बैसा ही बैल चाहिए, आपकी पशुशाला में बैसा एक भी बैल नहीं है। इस पर राजा ने कहा—कि तुम्हारा बैल कैसा है, लाकड़ दिखलाओ। सागरदत्त ने कहा, महाराज! मेरा बैल कभी भी घर से बाहर नहीं निकलता। यह सुनकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। अन्त में राजा ने कहा—ठीक है, हम स्वयं इस तुम्हारा बैल देखने के लिए तुम्हारे घर आयेंगे। राजा की इस कथन को सुनकर सागरदत्त घड़ा गया। मुख से उसने कुछ भी नहीं कहा, परन्तु उसका हृदय इस भय से कांपने लगा कि कल राजा मेरे घर आयेगा और मेरी भ्रुतुल सम्पत्ति देखेगा। यदि राजा लालच-वश भेरी सम्पदा माँग बैठा तो मैं क्या करूँगा।

घर आने पर उसे बुखार चढ़ गया। दूसरे दिन राजा अपनी रानी के साथ उसके घर आया। उसकी अतुल सम्पत्ति, हाथी, घोड़े और देलकर राजा चकित हो गया। अपने मन में वह विचार मरने लगा—अहो! इतनी घन-राशि हीते हुए भी यह लोभी कितना कष्ट सह रहा है। इस लोभ को धिक्कार है। सागरदत्त की पत्नी और पुत्रों ने कहा—राजा-रानी हमारे घर आये हैं, उनका स्वागत सत्कार करना चाहिए। लो यह रत्नों का भात राजा की मैट कीजिए। सागर-

दत्त ने रत्नों से भरा थाल हाथ में उठाया तो उसके हाथ काँपने लगे। राजा की भी लोभी सेठ के घन से छुएगा ही गयी। अतः बिना भेट लिए ही राजा लौट गया।

कुछ कालोपराहत वह लोभी सेठ मर गया और मर कर सांप के रूप में पैदा हुआ तथा अपने घन की रखवाती करने लगा। उसके पूर्वों ने घन के खजाने में सांप को देखकर किसी सन्त्रवादी को डुलवाया और उसे पकड़ा कर घर से बाहर निकलवा दिया। तत्पचात् वह सांप मरकर कर नरक में गया। अतः सांसारिक पदार्थों का कभी भी लोभ नहीं करना चाहिए। लोभ-क्षय के कारण मानव अपना धर्म-केम सब कुछ छोड़ देता है।

लोभ पाप का बाप बखाना

एक पिंडित जी 10 वर्षों तक बनारस में ग्राध्ययन करके बापस अपने नगर में लौटे। उसके पिता नगर के प्रसिद्ध जगीनीदार व सुप्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनका अच्छा प्रभाव था। सुशिक्षित होकर उनके पुत्र के आने पर सभी नारवासियों ने अत्यधिक हिंसित होकर उनके पुत्र का यथोचित स्वागत-समाप्ति किया। समवेत लोगों ने उनसे अनेक प्रश्न किये और उन्होंने सभी प्रश्नों के संतोषप्रद उत्तर दिये। उनको विद्वान् को धाक सभी लोगों पर जम गयी। पर अत्रानक एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—पिंडित जी, मुझे यह बताइये कि याप का बाप कौन है? इस साधारण से प्रश्न को सुनकर पिंडित जी बगलें झोकने लगे। किसी तरह वे उस आदमी को याँ ही टक्का देना चाहते थे, पर वह पीछा नहीं छोड़ता था। जब पिंडित जी से कोई संतोषवाद उत्तर देते नहीं बना तो उस व्यक्ति ने यहाँ तक कह दिया—पिंडित जी! आप दश वर्ष कासी पढ़ आये, पर मेरे साधारण-से प्रश्न का उत्तर आप नहीं दे सके, आरंभ जगीनीदार साहृद के रूपमें व्यक्त ही जी दिये हैं। बैठकर पिंडित जी उसका मुँह देखते रह गये।

सब लोग अपने-अपने घर चले गये। पिंडित जी भी घर आ गये। परन्तु उस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाने के कारण उनका मन बहुत ही दिलम था। अन्तवेदन के कारण उन्होंने भीजन तक नहीं किया। रात्रि में उन्हें नीद भी नहीं आई। वे अपने मन में विचार करके लोगों—आज बड़ा अपमान हुआ, अब मैं नगर में मुँह कैसे दिखाऊँगा। मेरे लिए यही उचित रहेगा कि पुनः काशी जाकर इस प्रश्न का समाधान खोजूँ। फिर क्या था, पिंडित जी सूर्योदय होने के पहले ही आवश्यक सामान साथ लेकर घर से निकल पड़े। चलते चलते शाम हो गयी। एक गांव में एक पक्के मकान के चूतते पर उन्होंने डेरा डाल दिया। खाना खाने के बाद विस्तर स्थोलकर के बही लेट गये और थकावट के कारण लेटते ही उन्हें गहरी नींद आ गयी। प्रातःकाल वे सूर्योदय होने वाले भी देर तक लेटे रहे। जिस मकान के चबूतरे पर वे सो रहे थे, वह मकान एक बेश्या

का था। नीचे आकर उस वेश्या ने जब चतुरतेरे पर सोये हुए उस सुनदर स्वस्थ अजनवी नवयुवक को देखा तो वह अवाक् रह गयी। उसने उसे जगाया और पूछा—आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं? कहाँ जाना है और किसलिए जा रहे हैं?

पण्डित जी एकदम हडबडाकर उठे और उन्होंने वेश्या कि एक सुन्दरी उनके सामने लड़ी है और प्रश्न पर प्रश्न किये जा रही है। कुछ सहज होकर उन्होंने जवाब दिया—है देखि! मैं एक पथिक हूँ। मैं समतामुर से आया हूँ और काही जा रहा हूँ। यक जाने के कारण भैंसे आपके घर के चतुरतेरे पर रात्रि भर विश्राम किया, इसके लिए आपको धन्यवाद है।

इस पर वह वेश्या बोली—श्रीमान्! आपने सब कुछ बताया, पर एक प्रश्न रह गया है। आप काशी की जा रहे हैं इसका भी उत्तर देने की कृपा करें। यह सुनकर पण्डितजी ने कहा—देखि! यह प्रश्न मत पूछिए, इससे मेरा हृदय व्यधित हो उठता है। वेश्या ने जब मुझे आपहूँ किया तो पण्डित जी कहने लगे—मुझे, काशी में दर्श वर्ष रहकर मैंने जान की साधारा पूरी की। उसके बाद मैं जब आपने नगर को लोटा तो लोगों ने मेरा खब स्तकार किया। दुर्भाग्य से उसी दिन लोगों ने मुझसे पचासों प्रश्न किये और मैंने सभी प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर दे दिये। पर मेरे सामने एक ऐसा प्रश्न आया जिसका उत्तर मैं नहीं है सका। वह प्रश्न था कि पाप का बाप कौन है? इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पासकरने के कारण मेरा मन खलनि से भर गया। इसी प्रश्न का सही समाधान पाने के लिए मैं वापस काशी जा रहा हूँ।

वेश्या बड़ी चतुर थी। उसने बड़ी ही शान्त मुद्रा में कहा—पण्डितजी! काशी जाने का विचार करके आपके अच्छाई ही किया, क्योंकि प्रश्न हल हुए बिना हृदय में बड़ी अशान्ति बढ़ी रही है। यह भैंस परम सौभाग्य है कि आप मेरे घर के चतुरतेरे रात भर ठहरे। अब आपसे यह प्रार्थना है कि अपना सामन उडाकर ऊपर कमरे में चलिए, शौच स्नान आदि से निवृत होकर पूजा-पाठ कीजिए; तत्पश्चात् भोजन करके आप आगे के लिए प्रस्थान करें। आप जैसे महापुरुष के चरणस्पर्श से मेरा घर पवित्र हो गया है, आज मेरा सार्थ वस्त्र हो गया है।

यह सुनकर पण्डितजी असमंजस में पड़ गये। कुछ भासा सोच विचार करने के बाद उन्होंने उस वेश्या से पूछा—बाईजी, आप कौन हैं और क्या करती हैं?

वेश्या—पण्डितजी! मैं मानवी हूँ तथा वेश्याद्विति करके अपना काम चलाती हूँ।

पण्डितजी—क्या कहा? वेश्या!

वेश्या—हाँ मैं वेश्या हूँ।

पण्डितजी—दिः दिः! हे भगवान् मैं कितना पापी हूँ। मैं कहाँ आ गया, कहाँ सो गया, ओह! एक अपवित्र वेश्या के घर पर। दिः दिः अनजाने में कितनी बड़ी भूल हो गयी। मुझे इस पाप का प्रायशिचत करना पड़ेगा।

वेश्या—पूज्यवर! मैं भी आपकी ही तरह मनुष्य हूँ। केवल एक वेश्या होने के कारण आप मुझे नीच व दृष्टित समझते हैं। पर सोच कर देखिए कि इसमें मेरा व्यापराध है। मैं भी एक कुलीन वाला थी, किन्तु मनव समाज के अत्याचारों में मुझे यह पाप-कर्म करने के लिए बाध्य कर दिया। पर मैंने यह प्रतिकार कर रखी है कि घर आये हुए अतिथि को कभी भी भूला नहीं जाने दूँगी। आप मेरे अतिथि हैं, आपको निराहार नहीं जाने दूँगी।

पण्डितजी—देखी! आप क्या कह रही हैं? मैं पण्डित हूँ, आपके घर पर कैसे खा सकता हूँ?

वेश्या—नहीं पण्डितजी भोजन तो आपको करना ही पड़ेगा। देखिए आगे में यह कुआ है, यह रस्सी बालटी पड़ी है, आप माज—धोकर स्तान कर लें। मैं बाजार से शुद्ध आटा, धी, दाल आदि सामग्री मंगा देंगी हूँ। आप अपने हाथ से बनाकर खा लें। आप बाह्यण हैं, अतः भोजन के बाद ५००) रु० दकिणा में भी दूँगी।

पण्डितजी—क्या कहा? पांच सौ रुपये दकिणा?

वेश्या—हाँ, हाँ, पांच सौ रुपये।

पण्डितजी—क्या आप को बात पर विश्वास किया जाय?

वेश्या—क्या आपको विश्वास नहीं है? तो लीजिए पांच सौ रुपये आपको पहले ही दे देती हूँ और ऐसा कहकर उसने पांच सौ रुपये उनके हाथ में धमा दिये।

अब क्या था। पण्डितजी ने फौरन स्नान किया, पूजा-पाठ किया। भोजन की सामग्री भी आ गयी। जमीन पर एक लकीर खोचकर पण्डितजी भोजन बनाने लगे। प्रायः घण्टे भर में भोजन तैयार हो गया। वेश्या ने जब देखा कि भोजन बनकर तैयार है तो वह नीचे उत्तर आयी। उसने घर के दरवाजे बन्द कर दिये ताकि कोई आ न सके। फिर वह पण्डितजी के सामने आयी। और हाथ जोड़कर बोली—हे पण्डित श्रेष्ठ! मैंने जीवन में बहुत बड़ा पाप किया

है। मेरे सीधाग्रय से आप मेरे यहां पापारे हैं। मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि ग्राज शाप मेरी भी शुद्धि कर देवे।

पणिडतजी—अच्छी बात है। भोजन करने के बाद मन्त्र-पूत जल के छीटों से तुम्हारी शुद्धि कर दूँगा।

वेश्या—पर मुझे इसमें विश्वास नहीं है।

पणिडतजी—तो फिर कैसे हो ?

वेश्या—उपराय मैं बताती हूँ मुझे शुद्ध करके आप मेरे हाथ से भोजन के पांच ग्रास ले लीजिए तो मुझे विश्वास हो जायेगा कि मैं शुद्ध हो गयी हूँ।

पणिडतजी—छिं छिं ! आप यथा कहती हैं ? कहां मैं पणिडत और कहां आप वेश्या ?

वेश्या—पणिडतजी, देखिए यहां दूसरा कोई नहीं है। मन्त्र-पूत जल से आप मेरी शुद्धि कर ही रहे हैं। शुद्धि होने के बाद मेरे हाथ से ग्रास लेने में हर्ज ही क्या है। शुद्धि करने के बाद भी यदि प्राप मेरे हाथ से ग्रास नहीं लेंगे तो ऐसी शुद्धि का महत्त्व ही क्या रहेगा।

पणिडतजी—पर……………?

वेश्या—हां हां, पर का अर्थ मैं समझ गयी हूँ। लीजिए, मैं आपको पांच सी रुपये और दो रुपये हूँ। मुझे परिव्रक्त करके मेरे हाथ से भोजन ग्रहण कीजिए।

पणिडतजी रुपयों के लोभ में आ गये। मन्त्र-पूत जल के छीटों से उन्होंने वेश्या की शुद्धि कर दी। स्वयं भोजन करने के लिए आसन पर बैठ गये। वेश्या ने थाल परोसा और पणिडतजी के सामने पाठे पर थाल रखकर बैठ गयी। भोजन का ग्रास लेकर उसने पणिडतजी के मुँह की ओर ज्बोही हाथ बढ़ाया और पणिडतजी ने ग्रास लेने के लिए मुँह खोला, त्योही वेश्या ने ग्रास नीचे केंकरकर उनके मुँह पर जोरदार चांटा मारा और कहा—अबे बेवकूफ पणिडत ! साधारणा से प्रश्न को हल करनें के लिए तू कासी जा रहा है। मैंने तुम्हारे प्रश्न को हल कर दिया है। जिस लोभ के बीचभूत होकर तू धर्मकर्म को तिलाङ्जलि देने के लिए तैयार हो गया, वह लोभ ही पाप का बाप है, समझो।

बेचारे पणिडतजी हडबड़ाकर खड़े हो गये और थर-थर कांपने लगे। वे आत्म-लानि से भरकर बोले—बाईजी, आपने मेरी ग्राहिणी खोल दी। अब मेरी समझ में आ गया है कि 'लोभ पाप' का 'बाप बखाना'। आपने मुझे पथ अर्ज

होने से बचा लिया। मैं आपका हमेशा कृतज्ञ रहूँगा। आपने जो शिक्षा दी है उसे जीवन भर नहीं भूलूँगा। वेश्या के रूपये उन्होंने वापस दे दिये और वहां से सीधे अपने नगर की लौट आये।

शौच-धर्म यदि हृदय में आ जाय तो संसार की कोई भी वस्तु मनुष्य के मन को डाँबाड़ोल नहीं कर सकती है। यह तीक ही कहा गया है—

हृष्ट धन, गज धन, वाजि धन और रतन धनलान ।
जब आये सत्तोष धन, सब धन धूरि र समान ॥

सन्तोष-धन ही सबसे बड़ा धन है। सन्तोष-धन के समान दूसरा कोई धन नहीं है।

आशाया ये दासास्ते दासा- भर्वति सर्वलोकस्य ।
आशा येदा दासी तेदां दासः सर्वलोकः स्यात् ॥

अर्थात् जो तृष्णा के आधीन हो जाते हैं वे समस्त लोक के अधीन हो जाते हैं, और जो तृष्णा को दासी बना लेते हैं सारा संसार उनका दास हो जाता है।

लोभ-तृष्णा को छोड़ने वाला मनुष्य परसु सुख को प्राप्त करता है। लोभी मनुष्य न तो अपने धन को स्वयं भोगता है और न इसरे को ही भोगते हैं। यही नहीं, दूसरे को धन देते हुए देखकर भी लोभी मनुष्य का मन उदास हो जाता है।

एक कृपण को उदास देखकर उसकी रसी ने पूछा—

नारी पूँछे सूम को, काहे बदन मलीन ।
क्या दैरी कच्छु पिर गयो, या काहू को दीन ॥

और सूम ने उत्तर दिया—

ना कच्छु मेरी पिर गयो ना काहू को दीन ।
देवत देख्या और कुं तासों बदन मलीन ॥

कृपण ने अर्जुन को उचित ही कहा या—

आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्थ,
अत्योदा का शीलतटा दयोर्मि;
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ।

अतः अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए संतोष-गुण को धारणा करना चाहिए। सन्तोष ही आत्मा का प्रथम हितकारी मित्र है। संसार में सन्तोष के समान कुछ भी सुखकारी नहीं है। इसलिए यह ठीक ही कहा है कि—

True happiness lies in contentment.

लोभ चार प्रकार का होता है—(1) जीवन का लोभ (2) निरोगका का लोभ (3) इन्द्रिय-विषयों का लोभ और (4) उपतोषों का लोभ। इन चारों प्रकार के लोभ का त्याग करना तथा तुरुण, स्वर्ण, रत्न, शत्रु, मित्र आदि इष्टनिष्ठ वस्तुओं में राग-द्वेष नहीं करना ही सायमाव वा संतोष है। समता और संतोष के द्वारा तुष्णा और लोभ को सर्वथा निर्मूल करना ही शौच-धर्म है।

शौच धर्म से सम्बन्ध व्यक्ति इस लोक में सम्मान को प्राप्त करता है। लोभी मनुष्य के हृदय में दानादि गुणों का अस्तित्व नहीं रह सकता। इसलिए संतोष रूपी जल से तृष्णानल की शान्त करना चाहिए।

लोभ मोह-रूपी विष-दुक्ष का मूल है। अपकीर्ति के द्वारा ऐसे व्याप्त, धन-रूपी दींघन से प्रज्वलित लोभानल संयम-रूपी उपायन को जलाकर शस्त्रात् कर देता है।

सन्तोष इच्छित फल प्रदान करने वाली चित्तामरणि है, स्वर्ग और मुक्ति का प्रश्रम सोपान है। सन्तोष से कल्पवृक्ष, कामधेनु, चित्तामरणि, नवनिवि आदि दुर्लभ पदार्थ भी सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। सन्तोष धारणा करके मनुष्य कर्मों के विकट जाल को काटकर अविगाधी तिद्ध-पद को प्राप्त कर लेता है।

अतः युद्धच्छु मानव को लोभदृष्टि को छोड़कर अपने हृदय में संतोष-दृष्टि को धारणा करना चाहिए।

शौच धर्म (जयमाला)

सउच जि वस्मांगत तं जि अमांग भिण्णांगत उवांगमत ।

जरमरण निणासणु तिजगपयासणु भाइज्जड अह विसि जि धुत ॥

शौच धर्म का अङ्ग है, उमङ्ग है, शरीर से भित है, उपयोगमय है, जरा और मरण का विनाश करने वाला है, तीन लोकों को प्रकाशित करने वाला है और ध्रुव है। उसका दिन रात ध्यान करो।

धर्म सउच्चु होइ मणु सुद्धिए, धर्म सउच्चु व्यरण धण गिद्धिए ।

धर्म सउच्चु कराय अहावें, धर्म सउच्चु गा लिप्पइ पावें ॥

शौच धर्म मन की शुद्धि से होता है, शौच धर्म वचन धन की पकड़ से होता है। शौच धर्म कषायों के अभाव से होता है और शौच धर्म पापों से लिप्त नहीं करता।

धर्म सउच्चु लोहु वज्जतउ, धर्म सउच्चु सुतब पहि जंतउ ।

धर्म सउच्चुंभ वव वारणि, धर्म सउच्चु मयदृष्ट एिवारणि ॥

शौच धर्म लोभ का वर्जन करता है, शौच धर्म उत्तम तप के मार्ग पर ले चलता है, शौच धर्म ब्रह्मचर्य के धारणा करने से होता है और शौच धर्म आठ मदों का निवारण करने से होता है।

धर्म सउच्चु जिरायम मण्णणे, धर्म सउच्चु सगुणा अणुगणणे ।

धर्म सउच्चु सल्ल कय चाए, धर्म सउच्चु जि शिरमलभाए ॥

शौच धर्म जिनामग का कथन करने से होता है, शौच धर्म तीन शल्यों का त्याग करने से होता है और शौच धर्म निर्वल मादों के बनाये रखने से होता है।



उत्तम संयम

मन और इन्द्रियों की प्रबृत्ति को रोकना संयम कहलाता है। मनोइचितों पर, हृदय में उत्पन्न होने वाली कामनाओं पर और इन्द्रियों पर अंकुश रखना संयम है। संयम दो प्रकार का है—(१) प्राणी-संयम (२) इन्द्रिय-संयम।

पांच इन्द्रियों और मन को विषयों में प्रबृत्त होने से रोकना इन्द्रिय-संयम है।

पृथ्वी, ग्रनिन, जल, वायु, बनस्पति और चंस-इन छः काय के जीवों की रक्षा करना प्राणी-संयम है।

चंचल घोड़े के समान इन्द्रियों अत्यन्त चपल हैं। इनके ऊपर यदि संयम रूपी लगाम का बन्धन न हो तो ये अपने अधिरोहियों को नरक-रूपी गड़के में गिरा दें। इन्द्रियों के अधीन रहने वाले बड़े-बड़े सुभट इन्द्रियों के दास बन कर इधर-उधर भटक जाते हैं और समाज से ब्रज्ज ही जाते हैं। जब आत्मा में संयम धर्य जागृत होता है तब मानव-हृदय की विषय अभिलाखएं अपने आप शान्त हो जाती हैं। संयमी मानव के हृदय में भोगोपभोग की विषय वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती है।

यथा यथा समायाति संवित्ती तत्वसुत्तमं
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि
यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि
तथा तथा समायाति संवित्ती तत्वसुत्तम्।

अर्थात् जैसे जैसे हृदय में उत्तम तत्त्व अर्थात् ज्ञान एवं संयम की भावना उत्पन्न होती है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं लगते। और जैसे जैसे विषय रुचिकर नहीं लगते, वैसे यैसे ज्ञान एवं संयम की प्राप्ति होती है।

जब तक संयम की भावना नहीं तभी तक विषय मनोज्ञ प्रतीत होते हैं। संयम का विवेक उत्पन्न होने पर मनोज्ञ विषय भी हलाहल विष के तुल्य प्रतीत

होते हैं वडे वडे चक्रवर्ती सान्नाट भी असीम सम्पदा को छोड़कर आत्मा में रसायन करने की उत्कट अभिलाषा से संयम वारण करते हैं क्योंकि संयम के बिना आत्म-ध्यान में स्थिरता नहीं आ सकती है।

बज्रदन्त चक्रवर्ती की कथा

एक दिन बज्रदन्त चक्रवर्ती अपनी राजसभा में बैठे हुए थे और उनके मन्त्री सामन्त, सेनापति आदि उनके चारों ओर यथारथान खड़े थे। इतने में माली ने आकर सान्नाट को फूलों का गुलदस्ता मैट में दिया। गुलदस्ता की ताथ में लेकर ज्योंही चक्रवर्ती बज्रदन्त ने शूघना चाहा, त्योंहीं उनकी दृष्टि पुष्प-स्तवक के बीच में देखकर भरे हुए भौंरे पर पड़ी। उसको देखकर वे विचार करने लगे—देखो, नासिका इन्द्रिय के वशीभूत होकर इस भौंरे ने अपने प्राण गौंवा दिये। ऐसे इन्द्रिय विषयों को धिक्कार है।

कुरञ्जमातञ्जपतञ्जभृञ्जमीताः हताः पञ्चभिरेव पञ्च।

एकः प्रमाणी स कथं न हन्यते यः सेव्यते पञ्चभिरेवपञ्च।

अतिः मातृंग, मृगं, शत्रुं, मातृं विषय इक इक में मरते हैं।

ननीजा वयों न पावें वे, विषय पावों जो करते हैं।

भौंरे ने तो एक आण्योन्द्रिय के वशीभूत होकर प्राण खो दिये, मैं तो पाँचों इन्द्रियों के आधीन हूं, मेरा क्या हाल होगा?

सारा जगत् इन्द्रियों का दास बना हुआ है। संसार में जितने अनाचार होते हैं, वे सब इन्द्रियों की अधीनता के कारण ही होते हैं।

स्पर्शेन्द्रिय के क्षणिक सुख की लिप्ता के कारण गजराज कामग भी हस्तिनी के लिए गड़के में गिर जाता है।

रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर मछली मछुए की बंशी में फैस जाती है और तड़प-तड़प कर मर जाती है।

द्राणा इन्द्रिय का दास बनकर अमर सूर्योर्त के समय कमल में बन्द होकर अपने प्राण खो जैता है। अमर का एक नाम जिलीमुख है जिसका अर्थ है वहां के समान तीक्षण मुखवाला। यदि वह चाहे तो काठ की बेलकर वाहर निकल सकता है, परन्तु सुगन्धि की ममता के कारण आत्म-शक्ति को भूल कर प्राण गौंवा बैठता है।

चक्रु इन्द्रिय के अधीन होकर पतंगा दीपक की लौ में आकर गिरता है और मर जाता है।

करण इन्द्रिय के बीबीभूत होकर हरिण बंशी के मधुर स्वर में तल्लीन हो जाती है और छिकारी के बाण से भारा जाता है।

एक एक इन्द्रिय के विषय-सुख में फैसे हुए प्राणियों की जब यह दशा होती है तो पांचों इन्द्रियों के विषय-जाल में फैसे हुए प्राणियों की क्या दशा होती होगी, यह कोई भूक्त भोगी ही जान सकता है।

विषय भोग कालकृष्ट विष से भी भयंकर है।

जो इन्द्रिय की दासता से मुक्त हो जाता है वही महात्।

ऐसा चिचार करके चक्रवर्ती बज्जदन्त संसार-भोगों से विरक्त हो गये। शीघ्र ही अपने पुत्रों को बुलाकर उन्होंने कहा—वत्स ! अब तुम यह राज्य भार सम्भालो, मैं अब दिग्मवरी दीक्षा घारण करूँगा। पुत्रों ने कहा—पिताजी, आप राज्य सुख को क्यों छोड़ रहे हैं ? चक्रवर्ती ने कहा—राज-कार्य पाप का कारण है,



बज्जदन्त चक्रवर्ती अपने पुत्रों और राजिनों से दिग्मवरी दीक्षा ग्रहण करने के लिये—अपने पुत्रों से आग्रह करते हुये।

जो राज-कार्य करते हुए भरता है वह नरक में जाता है। इस पर पुत्रों ने कहा—पिताजी, जिस राज्य को नरक का द्वार सम्भाल आप छोड़ रहे हैं, उसे हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? हम भी आपके साथ दीक्षा लेंगे। बज्जदन्त चक्रवर्ती ने उन्हें

बहुत समझाया पर दे अपने निश्चय पर अटल रहे। अन्त में उन्होंने अपने हजार पुत्रों के साथ दिग्मवरी दीक्षा ले ली।

जिनके हृदय में संयम की भावना जागृत हो जाती है उन्हें संसार के असार वैभव को छोड़ने में कितनी देर लगती है। धन्य है अह पवित्र संयम-धर्म जो संसार के बन्धनों को काटकर संसारस्य प्राणियों को मुक्ति की प्राप्ति करवाता है।

मानव-पर्याय, उत्तम कुल, सम्पत्ति, दीपणि, आरौग्य, उत्तम संगति, इन्द्रिय-विजय ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। मानव-जन्म की सार्थकता संयम घारण करने में है। इस संयम के लिए हक्क भी तरसता है, पर उसका ऐसा सौभाग्य कहाँ कि संयम घारण कर सके।

आत्म श्रद्धान् रूपी नगर के द्वार पर संवर रूपी मुद्रु व्रजता लगाकर उसके चारों ओर मन-चन्द्रन-काय रूपी त्रिपुष्टि की गहरी साई खोदकर एवं उसमें क्षमा रूपी जल भर कर इह नगर को हर तरह से मुद्रु एवं सुरक्षित बनाकर अपने पराक्रम के धनुष पर पंच समिति रूपी प्रत्यक्ष चढ़ा कर इति-रूपी मूढ़ को पकड़ कर सत्य संयम और तप रूपी बारांगों से कर्म-रूपी दुर्जेय शत्रु-घेना का भेदन करके एवं संसार-संतति का विच्छेद करके मुक्तिरसा को प्राप्त करना ही मानव-पर्याय की सार्थकता है। विषय वासना रूपी राक्षस से पीड़ित प्राणियों की रक्षा करने के लिए संयम-रूपी राम ही समर्थ है।

उत्तम संयम मूलि समृद्ध को आगमित करने वाला है, संसार-रज को उडाने के लिए पवन के समान है और कर्मों को रोकने के लिए अर्गला सदृश है। संयमी मानव के हृदय-रूपी पर्वत से कलकल निनाद करती हुई ऐम रूपी जल से भरी हुई द्या-रूपी नदी बहती है। मानव की आवश्यकताएँ दिनों दिन बढ़ती जा रही हैं और मानव उनकी पूर्ति की मृगतृष्णा में परेशान हो रहा है। निरंकुश कामनाओं के कारण ही संसार नाना प्रकार के संघर्षों का अलाज्जा बन गया है। असीम आकाश की तरह मानव की इच्छाएँ भी असीम हैं। एक इच्छा की पूर्ति होने के पहले ही अनेक नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। एक क्षण के लिए भी शान्ति नहीं है। मन और इन्द्रियों को संयत किये बिना, इच्छाओं का निरोध किये बिना मनुष्य के जीवन में शान्ति कैसे आ सकती है, तथा समाज, राष्ट्र और विश्व में शान्ति की स्थापना कैसे हो सकती है ? आध्यात्मिक उन्नति के लिए और लोकिक समस्याओं को सुलझाने के लिए संयम ही एकमात्र उपाय है।

चाहे मौन घारण करो या घर का त्याग करो या विधि-विद्यान की दक्षता का अन्याय करो या आस्त्र-स्वाध्याकारों का अभ्यास करो, यथा तपस्या करो, परन्तु कल्याण-युज्ज्वल व्यान-रूपी उपवन को विनष्ट करने वाले तीव्र पवन के समान

विनाशकारी इन्द्रिय-समूह को यदि तुम नहीं जीत पाते हो तो उपर्युक्त क्रियाओं को करना निष्कल है।

इन्द्रिय-रूपों की सेना चित्त-रूपी किले में घुस कर मृत्यु के जान और विवेक को बिनेट कर देती है। इन्द्रियों की आधीनता को स्वीकार करने वाला मानव सुभीम चक्रवर्ती के समान नरकगामी बनता है।

सुभीम चक्रवर्ती की कथा

इस भरतक्षेत्र में घट-खण्ड का अधिपति सुभीम नामक चक्रवर्ती हुआ। एक दिन जब वह भोजन करने के लिए बैठा तो जयसेन नामक रसोइये ने अत्यन्त मुख्यादु लीर परोसी। लीर बहुत गर्म थी। इसलिए चक्रवर्ती को शोध आ गया और कीष के आवेश में उसने लीर की थाली उठाकर रसोइये के सिर पर दे मारी। गर्म लीर से रसोइये का मुख जल गया, और यिर पर पर भयंकर चोट लगने के कारण वह बेहोश होकर निर पड़ा और उसके प्राण पोखर उड़ गये। मर कर वह लवण समुद्र में अंतर जाति का देव हुआ।

कुम्भवधि जान द्वारा पूर्वभूत के दृतान्त को जानकर सुभीम चक्रवर्ती पर नुङ्द होते हुए उसने उसे बदला लेने का संकल्प किया। तदनुसार सन्यासी का रूप धारणा करके कुछ मुन्दर एवं मुख्यादु फलों के लिए चक्रवर्ती के पास गया और फल मेंट किये। उन फलों को खाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ तथा इसने सन्यासी से कहा—महाराज! ये फल तो अत्यन्त मधुर एवं स्वादिष्ठ हैं, मैंने अपने जीवन में इतने स्वादिष्ठ फल कभी नहीं खाये। आप ये फल कहाँ से लाये हैं? इस पर सन्यासी ने कहा—राजन्! समुद्र के बीच में एक मुन्दर टापू है। वही एक छोटी-सी कुटिया में मैं रहता हूँ। मेरी कुटिया के पास ही फलों के अनेक पेड़ हैं। ये फल मैं वही से लाया हूँ। मुझ गरीब पर कुपा करके आप वहाँ पढ़ारें तो मैं आपको ऐसे उत्तम फल मेंट करूँगा जो आपने जीवन में शायद ही कभी खाये हों। चक्रवर्ती उसके बारजाल में आ गया। रसना इन्द्रिय के अधीन होकर वह सन्यासी के साथ जाने के लिए तैयार हो गया। मनिकों ने उसे रोकने के लिए अधक प्रवास किये, पर उनके प्रयास असफल रहे। शीक ही है, विनाश-काल आने पर बुद्धि विपरीत ही ही जाती है।

नोका में बैठकर वह समुद्र में थोड़ी ही दूर गया होगा कि अचानक नोका डगमगाने लगी। डूबने के भय से भयभीत होकर वह समोकार मन्त्र का जाप करने लगा। इतने में वह सन्यासी भयंकर रूप धारणा करके चक्रवर्ती के सामने प्रकट हुआ और कीष के आवेश में हीठों की ढंसता हुआं बोला—रे नराधम! तु जानता है कि मैं कौन हूँ? समरण कर, एक दिन कोध में आकर तूने अपने

रसोइये को मार डाला था। मैं उसी रसोइये का जीव हूँ। मरकर मैं अंतर देव हो गया। तुमसे बदला लेने के लिए ही तुम्हें यहाँ लाया हूँ। यह लवण समुद्र है जो तेरे राज्य की सीमा के बाहर है। अब तुम्हे कोई भी नहीं बचा सकता है। यदिजीव चहता है तो जिस मन्त्र का जाप करा रहा है, उसकी पार्नी पर लिख कर लात मार दे, अन्यथा तेरा बंचना असंभव है।

षट्खण्डाधिपति सुभीम चक्रवर्ती भय से कोप उठा। जीवन रक्षा का कोई अन्य उपाय न देखकर उसने उस अंतर देव के कहने के अनुसार पानी पर गमोकार मन्त्र लिखकर लात मार दी। उस अंतर देव ने उसी क्षण में उसे समुद्र में डुबो दिया। इस प्रकार वह मरकर सातवें नरंक में गया। इन्द्रिये लौंगीं अस्यमी जनों की यही दशा होती है।

मानव-जीवन एक महात्मपूर्ण हाट है जिसमें संयम-रूपी अमूल्य निधि भी मिलती है। जो इस बहुमूल्य निधि को प्राप्त करने की प्रयोग नहीं करता है वह सदैव पछताता है।

इसलिए हे भव्यात्माओं! जो विषय जब तक तुम्हारे सेवन में नहीं आते, तब तक के लिए उनका त्याग कर दो। कदाचित तुम्हारी मृत्यु त्रीती अवस्था में हो गयी तो तुम्हें भव्य जीवन के साथ-साथ अनेक सुख एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति होती। सच्च जीवी ग्रीहसंसार, संयमी का अन्तःकरण संसार व जीर्ण के भीमों से निष्पृह होता है। जैन ज्योति-स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव संयम के प्रभाव से ही संभव होता है। अतः संयम-रूपी रत्न को चुराने वाले विषय-वासना-रूपी तस्करों से सावधान रहना चाहिए।

बाहु इव्येन्द्रियों से व्याकृत होकर छह काय के जीवों की रक्षा करते हुए अम्बन्तर में निज शुद्धात्मान का अनुभव-वित्तन करते हुए आत्म-स्वरूप में लीन होना संयम है। उपेक्षासंयम और अपहृत संयम के भेद से संयम दो प्रकार का है। शरीर से विकृत गुणित और समिति के वारक मुनियों की चित्तदृष्टि का योगदे पर्य मन्त्र नहीं होता। उपेक्षा संयम है। उत्कृष्ट जान-चारित्र के वारक सायु जीव-जन्मुयों के आ जाने पर स्वयं द्रुर हो जाते हैं, जीवों को किसी भी तरह की पीड़ा नहीं पहुँचते हैं—इसी को उत्कृष्ट अपहृत संयम कहते हैं। उत्कृष्ट, मध्यम और जघन के भेद से अपहृत संयम तीव्र प्रकार का है। मुदु पिंचिका, मध्यम की बुहार कर हटाने वाले की सध्यम तथा वस्त्रादि से बुहार करने जीवों की रक्षा करने वाले को जघन्य अपहृत संयम कहते हैं।

अपहृत संयम की रक्षा के लिए भाव-शुद्धि, काय-शुद्धि, विनय-शुद्धि, ईर्ष्य-शुद्धि, मिथा-शुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयनासन शुद्धि और वाक्य-शुद्धि—इन आठ

शुद्धियों का विद्यान किया गया है।

समस्त परियह के त्यागी मुनिराज का योग्य-योग्य में हचि रखना भाव शुद्धि है। भाव शुद्धि से चारित्र चमक उठता है, जैसे स्वच्छ दिवाल पर चित्राम। काय शुद्धि-आभरणा रहित शरीर के संस्कार से रहित अंग विकार विहीन यथाजात रूप भारण करना काय शुद्धि है।

अहंतादि पञ्च परमेष्ठी में, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र में भक्ति भाव, का एवं शास्त्र व युगु के अनुकूल प्रचुरता का होना विनय शुद्धि है। समस्त सम्पदाएँ विनय मूलक हैं। विनय मानव का भूषण है। संसार-सागर से पार उतारने के लिए विनय नौका के समान है।

विशिष्ट ज्ञान-पूर्वक सूर्यों के प्रकाश में अच्छी तरह वेळकर जीव-जन्मत्रों की रक्षा करते हुए थीरे थीरे गमनगमन करना ईर्यापथ शुद्धि है। जिस प्रकार सुनीति से वैभव की प्रतिष्ठा होती है उसी प्रकार ईर्यापथ शुद्धि से संयम प्रतिष्ठित होता है।

शास्त्रोक्त विधि से ५६ वेष तथा ३२ अन्तराय टालकर श्रावक के पर शुद्ध भोजन ग्रहण करना विश्वा शुद्धि है। साधुजनों की संगति से गुण-सम्पदा प्राप्त होती है। विश्वा शुद्धि से चारित्र निर्मल होता है।

देश-काल को जानकर जीव-जन्म रहित स्थान में मल-मूत्रादि का क्षेपण करना प्रतिष्ठान शुद्धि है।

चोर, जुआरी, शिकारी, मदपाथी आदि के निवास स्थान को छोड़कर गिरि-कन्दरा, मन्दिर आदि स्थानों में रहना, बैठना, सोना साधुओं के लिए शयनासन शुद्धि है।

हिंसादि पापारम्भ की भावय का परिवाप करके हिंस, मित, प्रिय वचन बोलना वाक्य शुद्धि है। वाक्य शुद्धि कल्याण का परम पवित्र मन्दिर है।

इस प्रकार संयम का पालन करने के लिए अष्ट शुद्धियों का पालन करना नितान्त आवश्यक है। इन्द्रिय थीर मन का दमन करके संयम धर्म का पालन मानव पर्याय का सार है।

इन्द्रिय दमन एक अनुपम अमृत है जिसका पान करने से आत्मा अजर अमर हो जाती है।

इन्द्रिय-दमन एक सुदृढ़ नौका के समान है जिसकी सहायता से मानव राग-

५८]

द्वैष-रूपी तरंगों से व्याप्त एवं काम, क्रोधादि नक चक्रों से व्याप्त अपार भव-सिन्धु को सहज ही पार कर सकता है।

इन्द्रिय-दमन एक परम पुरुषार्थ है जिसके बल पर संकल्प-विकल्प-रूपी घाट को पार करके मानव आत्म-लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

इन्द्रिय-दमन एक नाम-दमनी है जिसके उपयोग से विषय-वासना-रूपी नागिन का विष उतार जाता है।

इन्द्रिय-दमन एक आश्चर्यकारी अमोघ वशीकरण मन्त्र है जिसके प्रभाव से मुक्ति रूपी परम सुन्दरी वया में हो जाती है।

इन्द्रिय-दमन वह भयंकर अग्नि-ज्वाला है जो अनादिकाल से बैंधे हुए कर्म समूह को जलाकर भस्मसात् कर देती है।

इन्द्रिय-दमन परम सुन्दर अलैकिक रथ है जिस पर बैठ कर मानव निविज मोक्षपुर में पहुँच जाता है।

इन्द्रिय-दमन एक अनुपम जड़ी है जिसके सूर्यने से विषय-विकार-रूपी डाकिनी भर जाती है।

इन्द्रिय-दमन निर्मल गंगाजल है जिससे आत्मा-रूपी वस्त्र की मलिनता दूर हो जाती है।

इन्द्रिय-दमन एक उत्तम पर्वत है जिससे निर्मल ज्ञान-रूपी गंगा का प्रवाह निकलता है।

इन्द्रिय-दमन एक ग्रागाध समुद्र है जिसमें शान्ति, संतोष आदि महारत्न पाये जाते हैं।

इन्द्रिय-दमन रूप संयम ही सुख और शान्ति का सच्चा योग्य है। अतः प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि वह उत्तम संयम धर्म को भारण करे।

जब तक हमारे जीवन में संयमाचरण का निशान नहीं।

देव होने की बात तो रही हूर हम इत्सान नहीं ॥

संयम धर्म:

दयाद्यं संयमं मुक्तिकर्तिं स्वेच्छयातिगम् ।

पूजया परया भक्त्या पूजयामि तदाप्तये ॥

[५९]

मुक्ति के दाता और स्वेच्छा से प्राप्त दयामय संयम धर्म की मैं उसकी प्राप्ति के लिए भक्तिमूर्च्छा वड़ी विश्वासि के साथ पूजा करता हूँ ।

संजम जरिए दुलहड़ तं पाविलवहु जो छड़इ पुणु मूढमइ ।
सो भवउ भवालि जर मरणावलि कि पावेसई युगु सुई ॥

संयम धर्म लोक में डुर्भ है । जो मूढमति उसे प्राप्तकर छोड़ देता है वह जरा और मरण के चक्रवृप संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करता किरता है । भला वह कैसे प्राप्त हो सकता है ।

संजमु पञ्चदिव दंडरेण, संजमु जि कसाय विहृदरेण ।
संजमु दुधर तव धारणेण, संजमु रस चाय वियारणेण ॥

संयम पांच इन्द्रियों का दमन करने से होता है । संयम क्षमाओं का नियन्त्रण करने से होता है । संयम दुर्भर तप के करने से होता है । और संयम रस त्याग तप का बार बार विनष्टवन करने से होता है ।

संजमु उपवास विजंमणेण, संजमु मण पसरह धंभणेण ।
संजमु युक काय किलेमणेण, संजमु परिग्रह गह चायणेण ॥

संयम उपवास के बढ़ाने से होता है, संयम मन के प्रसार को रोकने से होता है, संयम बहुत कायक्लेश करने से होता है और संयम परिग्रह रूपी गृह का त्याग करने से होता है ।

संजमु तस धायर रक्खणेण, संजमु सतत्य परिक्लेणेण ।
संजमु तणु जोय रियंतणेण, संजमु बहु गमणु चर्यंतएण ॥

संयम त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करने से होता है । संयम सात तत्त्वों की परीक्षा करने से होता है, संयम कायरोग का नियन्त्रण करने से होता है और संयम बहुत गमन का त्याग करने से होता है ।

संजमु अणुकंप कुण्ठंतएण, संजमु परमत्य वियारणेण ।
संजमु पोसइ दंसणहं पंथु, संजमु शिङ्क्षय शिरु खोक्तवं पंथु ॥

संयम अनुकम्पा करने से होता है, संयम परमार्थ की बार २ भावना करने से होता है । संयम सम्यग्यदर्शन के मार्ग को पुष्ट करता है और संयम एक मात्र गोक्ष का मार्ग है ।

संजमु विणु शर भव सम्बुद्धु, संजमु विणु दुग्गइ जि उद्ववणु ।
संजमु विणु घडिय म इत्य जाउ, संजमु विणु विहलिय श्रिय आउ ॥

संयम के विना मनुष्यभव शून्य के समान है । संयम के विना यह जीव नियम से दुर्गति में जन्म लेता है । संयम के विना एक वड़ी भी व्यर्थ मत गेवाओं । संयम के विना सम्पूर्ण आयु विफल है ।

इह भीवं परमवि संजमु सारणु हुञ्जव जिणावाहै भणिए ।
दुग्गंइ सर सोसणा खर किरणोबन जैण भवालि विसम हणिए ॥

इस भव में और परभव में संयम ही शरण हो सकता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है । यह दुर्गतिलोपी तालाब का धोयणा करने के लिए तीक्षण किरणों के समान है । इससे ही विषम भव भ्रमण का नाश होता है ।

॥ उत्तम संयम धर्म की जय ॥



उत्तम तप

कर्म-शय के लिए जो तपा जाता है वह तप बहलाता है। इच्छाद्वयों का विरोध करना तप है। कर्त्त्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है :—

इह परलोय सुहाएँ शिवबेलो जो करेदि सम भावो ।
विविहं काय किलेशं तव वस्मो शिम्मलो तस्म ॥

अर्थात् जो इस लोक और परंलोक सम्बन्धी सुखो का अपेक्षा न करके शत्रु मित्र, काच, कंचन, महल, श्यामान, सुख, दुःख, गिर्वास, स्तुति आदि, में समता-भाव रखते हैं तथा निवार्चित अनशनादि बारह प्रकार का तपश्चरण करते हैं उसको उत्तम तप कहते हैं।

तप-रूपी लगाम के द्वारा मन-रूपी धोड़े को बश में किया जाता है। तप के बिना उन्मत्त इन्द्रियों का दग्म कषमवि संभव नहीं है। इस प्रकार वर्षा क्रतु में बजाधात से पर्वतों की ओटियां हटकर अकनाशूर हो जाती हैं, उसी प्रकार तप-रूपी बज के द्वारा कर्म पर्वत अकनाशूर हो जाते हैं।

उत्तम तप काम-रूपी दावानल को बुझाने के लिए भेद के समान है, प्रचंड इन्द्रिय-रूपी सर्पों को बश में करने के लिए मन्त्र के सदृश है और विघ्न रूपी अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्य-तुल्य है। तप नव कैवल लिङ्गरूपी लता का मूल कारण है।

बहिरंग और अन्तरंग भेद से तप दो प्रकार का है। मोक्षशास्त्रकार उमा-स्वामी के अनुसार “अनशनावमौदर्द्यवृत्तिपरिसङ्घान रसपरित्याग-विविक्तशश्या-सनकायलेशा वाहूं तपः” अर्थात् अनशन, अवमौदर्द्य, वृत्ति परिसङ्घान, रस परित्याग, विविक्त शश्यासन और कायलेश—ये छह प्रकार के बहिरंग तप हैं।

लोकोत्तर मुक्ति-सुख की प्राप्ति के लिए तथा काम-शत्रु को जीतने के लिए खाद्य, स्वाच्छ, लेश और येय-इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना

अनशन तप है। इससे रोग छेद, कर्म विनाश तथा ध्यान एवं आगम का अवबोध होता है।

संयम की सिद्धि तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए भूख से कर्म खाना अवबोधयं तप है। इससे सदय की जागरूकता, दोषों का प्रशमन तथा सत्त्वोष, स्वाध्याय आदि गुणों की वृद्धि होती है।

तुष्णा की ज्वाला को शान्त करने के लिए कोई प्रतिज्ञा लेकर आहार को जाना वृत्ति परिसङ्घान तप है।

जिवेन्द्रियत्व संयम की बांधा की निवृत्ति के लिए अपनी इन्द्रियों की वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए नमक, तेज, दूध, दही, धी, चीनी आदि छहों रसों का अथवा इनमें से एक या एकाधिक रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है।

ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि की वृद्धि के लिए एकान्त स्थान में शयन करना, बैठना आदि विविक्त शश्यासन तप है।

शरीर की मंमता को त्याग कर शारीरिक कष्टों को सहना काय-क्लेश तप है।

ये छह प्रकार के तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रखते हैं तथा इन्हें दूसरे प्रत्यक्ष देखते हैं, प्रतः इन्हें बाह्य तप कहते हैं। अन्य मतावलम्बी भी इन्हें करते हैं। जिस प्रकार अन्तिम संचित तृणांशि को जला कर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अनशनादि तप भी मिथ्यादर्भादि से अर्जित कर्मन्वन को भस्म कर देते हैं। इन बाह्य तपों से इन्द्रिय-निग्रह सहज होता है।

जिनका सम्बन्ध आत्मा के अन्तर्गत भावों से है अथवा बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न करके जो तप अन्तःकरण से किये जाते हैं उन्हें अन्तर्गत तप कहते हैं। “प्रायशिच्छत्विनयैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्गं ध्यानान्तुतरम्”—अर्थात् प्रायशिच्छत्, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान—ये छह प्रकार के अन्तर्गत तप हैं।

प्रमाद अथवा अन्तान से लगे हुए दोषों की आलोचना करते हुए उनको गुरु के सामने प्रकट करके दण्ड लेना प्रायशिच्छत तप है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की तथा श्रेष्ठ गुरुज्ञानों की प्रशंसा, आदर, स्तुति वन्दना आदि करना विनय तप है।

चरित्र, शील आदि गुणों से विभूषित साधुज्ञानों की सेवा-शुभ्रूषा करना वैयावृत्य तप है।

शास्त्रों का मनन, चिन्तन, अध्ययन, अध्यापन आदि करना स्वाध्याय तप है।

कोषादि ग्रन्थों एवं ब्रह्म-वान्यादि बहिरंग उपाधि का त्याग करना व्युत्सर्प्त तप है।

चित्त को एकाग्र केरके आत्म-विज्ञन करना ध्यान तप है।

ये वार्ष प्रकार के तप संसार-बन्धन का नाश करने वाले हैं। कोष, मान माया, लोभ, छल, क्राट, दम्भ, आशा, तृष्णा आदि विकार-भावों का त्याग करना ही सच्चा तप है।

आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान को जानते हुए जो तप किया जाता है वही तप सार्थक होता है तथा निर्वाण की प्राप्ति में सहायक बनता है। जिनको शरीर और आत्मा का भेद-विज्ञान नहीं हैं उनका तप करना निष्कर्ष है तथा इस भेद-विज्ञान से शून्य व्यक्ति का तप निर्वाण का साधन बन ही नहीं सकता है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है :—

यो न येति परं देहा देवात्मानमध्ययम्

लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः।

जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानता है वह और तपश्चरण करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता है।

संसार में दुःख का मूल कारण आत्म-ज्ञान का अभाव है। जब तक यह ज्ञान रहता है तब तक दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता है। अज्ञानी जन अनादिकाल से शरीर की ही आत्मा मानते आये हैं, अतः तपश्चरण करके भी केवल खिल ही होते हैं। तप के वार्षिक स्वरूप से अनिभिज रहकर तपश्चरण करना भी निरर्थक है।

आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से अनिभिज मानव घोर तपश्चरण करके कभी भी खेद-खिल नहीं होता है। तप के लिए मनुष्य ही कर सकता है, देव, तिर्यक, तथा नारकियों में तप करने की सामर्थ्य नहीं है। जो विषय-कषयों का त्याग करके ग्रन्थशान्दि तप तपते हैं उन्हीं का जीवन सार्वक होता है। तप की महिमा अचिन्त्य है, वर्णना नीत है। तप के प्रभाव से सर्व का हार बन जाता है, सांसारिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है; शोक संताप का नाश होता है और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

[६४]

एक सेठ-पुत्री की कथा

एक सेठ था। उसके एक पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं। सेठ ने अपनी पुत्रियों का विवाह श्री सप्तश्च श्रेष्ठ घरानों में कर दिया और पुत्र का विवाह भी एक सुप्रोग्य सुशील लड़की के साथ कर दिया। एक दिन सेठ अपने महल की छत पर बैठा था। सन्ध्याकालीन आकृतिक छढ़ा को भाव-विभीर होकर वह देख रहा था। अन्यानक उसकी दृष्टि की छड़ में कौं हुए एक बैल पर पड़ी जो निराल अतहाव होकर छटपटा रहा था। बैल की इस दुर्दशा को देखकर सेठ अपने मन में विचारने लगा—यह संसार कितना असार है। ये सासारिक लोग विषय-वासनाओं में फँसकर अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं। एक दृश्य के लिए भी आत्म-हित का विचार नहीं करते। ऐसा विचार करके उसने संसार के भोगों से विरक्त होकर जैवेवरी दीक्षा ले ली।

यद्यपि सेठ ने अपनी पांचों लड़कियों का विवाह सुलभम् घरानों में किया था, परन्तु प्रापोदय के कारण सबसे छोटी लड़की के घर की सारी सम्पत्ति वाढ़ के प्रबल प्रवाह में बहकर नष्ट हो गयी। उसके पास न तो तन ढक्के के लिए वस्त्र ही बने और न रहने के लिए घर ही। खाने-पीने के साधन भी उसके पास नहीं रहे। वह दर-दर की भिलारियों बन गयी। कोई उपाय न देखकर वह अपने बच्चों और पति के साथ अपने भाई के घर आ गयी।

जब मानव के पाप-कर्म का उद्देश्याता है तो अपने भी प्राप्त द्वारा ही जाते हैं और मित्र भी शाश्वत बन जाते हैं। अतः जब वह अपने भाई के घर पहुँची तो उसके भाई ने कहा—बहन ! तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, ऐसी दरिद्र अवस्था में यदि तुम यहाँ रहोगी तो मेरी प्रतिष्ठा में धाँच आयेगी। अतः तुम्हारा यहाँ रहना उचित नहीं है।

भाई की इस बात को सुनकर उसे बहुत दुःख हुआ। उसे स्वार्थीय संसार का विचित्र अनुभव हुआ। वह तकाल वहाँ से लौट गयी और धास-कूँस की एक छोटी-सी झोपड़ी बनाकर रहने लगी। उसका पति जंगल से लकड़ियाँ काटकर लाता था। उसे उहूं बेच कर किसी तरह अपनी पत्नी और बच्चों का निवाह करने लगा। एक दिन उसके भाई की पत्नी ने किसी दूत का उदायन किया और समस्त नगर-वासियों को भोजन करने के लिए अपने घर दुलाया, परन्तु उसे निमन्त्रण नहीं दिया। सभी लोगों को भोजन करने के लिए जाते हुए देख कर उस अभागियी बहन के बच्चे कहने लगे—माँ ! हम लोग भोजन करने के लिए बच्चों नहीं चलते हैं ? इस पर माँ ने दुःखित स्वर में कहा—मुझो ! तुम्हारे गागा ने हमें नहीं बुलाया है, अतः हम बिना बुलाये कैसे जा सकते हैं। लड़के दो दिनों से भूखे थे,

[६५]

अतः मामा के घर जाने को मचलने लगे। माँ ने उन्हें बहुत समझाया, पर वन्ने तो आविर बच्चे ही ठहरे। माँ के समझाने पर भी के अपने हठ पर अड़े रहे। अत में विवश होकर उसे आने भूखे प्यासे बच्चों को लेकर अपने भाई के घर जाना पड़ा। भाई ने ज्योंही बहन को देखा, ज्योंही उसने क़दू होकर उसे बहुत कुछ भला-बुरा कहा और घबके मार कर निकाल दिया।



अपनी बहन और उसके लड़कों को घबके देकर घर से बाहर निकाल दिया
जो कई रोज़ा से भूखे थे—और अपने मामा के घर खाना खाने चाहे थे।

इस अपमान की भयंकर ज्वाला से जलती हुई तथा अपने पूर्वोपार्जित पापकर्मों के कारण बिछ होती हुई वह वहाँ से लौट पड़ी। रास्ते में जिन-मन्दिर को देखकर भगवान् के दर्शनार्थ मन्दिर में ग्रामी। संयोग से वहाँ एक मुनिराज विराजमान थे। अर्थात श्रद्धा व भक्ति के साथ उसने मुनिराज की बदना की ओर उन्हें अपनी दुःख भरी जीवन-गाथा सुनायी।

मुनिराज ने कहा लेटी ! यह संसारी ग्रामी अजान के वशीभूत होकर हँसते-हँसते कर्मपार्जन करता है और कर्मफलों के प्रकट होने पर दुःखी होता है।

तुम भी अपने कर्मफलों को मुगत रही हो। अब धैर्य धारणा करो। एमोकार मन्त्र का उपवास करो। यही तुम्हारा कल्याण करेगा।

मुनिराज के कथनामुसार उसने एमोकार मन्त्र के ३५ उपवास किये, जिसके प्रभाव से उसका दुःख-दारिद्र्य नष्ट हो गया। वह पिर से अतुल सम्पदा की स्वामिनी बन गयी।

उप जे माहात्म्य का क्या वर्णनकिया जाय। घोर तपश्चरण के द्वारा सुकुमाल, बाहुबली, पाण्डव, गजकुमार, मानतुनामार्य आदि महामुखों ने अष्ट कर्मों का नाश करके मुक्तिपद प्राप्त किया। इस उप की महिमा का वरणत करता अशक्य है।

जिस प्रकार वन को जलाने के लिए दावानव ही समर्थ है, दावानव की ज्ञानत करने के लिए ऐसे भैरव समर्थ हैं और ऐसे दो छिन्न-भिन्न करने के लिए प्रचण्ड पवन ही समर्थ है, उसी प्रकार कर्मों का नाश करने के लिए द्वादश तप ही समर्थ हैं। जिस उप के प्रभाव से विष-समूह नष्ट हो जाता है, देव किकर बन जाते हैं, काम की विकार-परिणाम शान्त हो जाती है, इन्द्रियां बंशगत हो जाती हैं, महा क्रदिर्यां प्राप्त हो जाती हैं, कर्मों की निर्जरा हो जाती है तथा स्वर्ण और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा उप संवेदा स्तुत्य व धारण करने योग्य है। मिथ्यादर्शन सहित उप करें, पर सासारिक अम्बुदयों की उपलब्धि होती है। सन्तान जिसकी दृढ़ जड़ है, प्रथम संवेदादि स्तन्त्र हैं, पंचिद्रियों का निरोध जिसकी शाखाएँ हैं, अभयदान जिसके हरे-भरे पते हैं, शील जिसकी कोंतें हैं, समता-भाव जिसके सुवासित पुष्प हैं—ऐसे शद्म-स्त्री जल से रिविच मुक्ति-स्त्री मुन्दर व ममुर फल को देने वाले उप-रूपी दृश्य का आश्रय ग्रहण करके पाप-रूपी सूर्य के भीयण संताप से बचने का प्रयास सभी को करना चाहिए।

आत्मा की निर्मलता त्याग और संयम से है ही सांसारिक वैभव से नहीं।

जो पर द्रव्य का स्वामी बनता है, वह सबसे बड़ा चोर है।
मिलती है उसको सजा बड़ी कठोर है॥

रार भव पारेपिण्णु तच्च मुरोपिण्णु, संचिवि पंचिदिय समणु।

एग्जेंड पंसिडिवि संगइ छंडिवि तउ किजउ जाएवि वगु॥

नर तन पाकर तल्तों का मतनकर मत के साथ पांचों इन्द्रियों का दमन करके निर्वेद की प्राप्त होकर परिग्रह का त्याग कर वन में जाकर उप करना चाहिये।

तं तउ जहि परिगद्धु छंडिज्जइ तं तउ जहि मयणु जि लंडिज्जइ।

तं तउ जहि एग्गतणु दीसइ तं तउ जहि गिर कदरि एिवसइ॥

जो परियह त्यागी है, ममोविकार की जीतने वाला है, नग्न स्वरूप घारी है,
गिरि कन्दराओं में निवास करने वाला है, वही उत्तम तप का घारी होता है।

तं ततु जहि उत्सम्म सहिष्जइ तं ततु जहि रायाइ जिहिजजइ ।
तं ततु जहि भिवदइ नु रिष्जजइ सांख गेह कालिशिव सिज्जइ ॥

तप वह है जहाँ उपसर्गों को सहन किया जाता है, तप वह है जहाँ रांगादि
भावों पर विजय प्राप्त की जाती है, तप वह है जहाँ श्रावकों के घर पर योग्य
काल में भिक्षाधूर्वक भोजन किया जाता है।

तं ततु जत्य समिदि परिपालणु तं ततु गुप्तितत्वहृं शिहालणु ।
तं ततु जहि अप्पापरु बुजिक्कु, तं ततु जहि भव माणु जि उजिक्कु ॥

तप वह है जिसमें समितियों का पालन किया है, तप वह जहाँ तीन
गुप्तियों पर सम्यक् ध्यान दिया जाता है—तप वह है जिसमें स्वपर का विचार
किया जाता है। तप वह है जहाँ पर पर्यामि के अहंकार का त्याग किया जाता है।

तं ततु जहि संसर्व मुशिज्जउ, तं ततु जहि कम्महूं गणु खिज्जइ ।
तं ततु जहि सुर भिति पयासइ, पवयणात्थ भवियणहृं पभासइ ॥

तप वह है जहाँ अपने स्वरूप का मनन किया जाता है। तप वह है जिससे
कर्मों का नाश किया जाता है। तप वह है जहाँ देवगण अपनी भक्ति प्रकाशित
करते हैं। तप वह है जहाँ भव्यों के लिए प्रवचनार्थ का कथन किया जाता है।

जेण तबै ज्ञेवलु उपजजइ सासय मुक्तु यिज्ज संपज्जइ ।

तप वह है जिसके होने पर नियम से केवलज्ञान उत्पन्न होता है और नित्य-
शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

वारह विहृत तरु गुग्गाइ परिहरु, तं पूजिज्जइ थिर गणिणा ।
मच्छुर मउ छ्विवि करण्णइ दंडिवि तं विधिज्जइ गउ रविणा ॥

यह वारह प्रकार का तप उत्तम है, दुर्गति का परिहर करने वाला है, स्थिर
मन होकर उसका आदर करना चाहिये और गौरव के साथ जीवों को मद मात्सर्य
का त्याग कर और पांचों इन्द्रियों के विषयों का दमन करना चाहिये।

॥ उत्तम तप धर्म की जय ॥

उत्तम त्याग

अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना तथा प्राप्त भोगों से विमुक्त हो जाना
त्याग है। जीवन में जब सच्चे त्याग का आविभाव होता है तब मानव पर्याप्त
साधन-सामग्री के नहीं होने पर भी आत्म-सन्तोष और परम आत्मद का प्रबुद्ध
करता है। भोग-लिप्यु व्यक्ति के पास चाहे कितने ही भोग-साधन क्षमों न हों, पर
वह कभी भी सन्तोष का अनुभव नहीं कर सकता है। उत्तम त्याग धर्म की प्राप्ति
के लिए अनावश्यक वस्तुओं का त्याग करना चाहिए।

त्यजनं त्यागः—निश्चय नय से राग-द्वेष को छोड़ना त्याग धर्म है।
व्यवहार नय से चेतन, अचेतन अविद्या परियह को छोड़ना त्याग धर्म है।
राजवार्ताकार के अनुसार “परिग्रहनितिस्त्यागः”—अर्थात् परिग्रह से निवृत्तहोना
त्याग कहलाता है। उक्तानुशासन के अनुसार—“बाह्याभ्यंतरस्परिग्रहयजनं त्यागः
पात्रदानं वा”—अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना वा पात्रों
को दान देना त्याग धर्म है। सर्व देश और एक देश के भेद से त्याग दो प्रकार
का है। समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग करना सर्वदेश त्याग है तथा परिग्रह
का परिमाण करना एक देश त्याग है।

स्व और पर का उपकार करने के लिए अपने द्वारा अजित धन का चार
प्रकार के दान—आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान, श्रीष्विवरान—में विनियोग
करना त्याग धर्म है। पुण्य को उपार्जन तथा अशुभ कर्मों के अनुभाग, रिति-
आदि का खण्डन स्व का उपकार है तथा महात्रती मुनी, आधिका आदि के ज्ञान
ध्यान की दृष्टि के लिए जो दान दिया जाता है उसका उद्देश्य पर का उपकार
है। जिस दान में लोभ का लेशसात्र भी न हो वही वास्तविक दान है।

आहारदानः—पड़गाहन, उच्चासन, पाद-प्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मन-शुद्धि
वचन-शुद्धि, काय-शुद्धि आहार-जल-शुद्धि स्वरूप नवधा भक्ति तथा भक्ति, संतोष
अलोभ आदि सप्त गुणों के संहित श्रावक के द्वारा शास्त्रोक्त विधि-दूर्वक मुनि,
आधिका, लुलक, लुलिकाओं को शुद्ध आहार-जल प्रदान करना आहारदान है।

यह आहारदान महा मुनियों द्वारा प्रशंसनीय है। इसके प्रभाव से दाता के घर में वंचाश्चर्य सम्पन्न होते हैं। देव भी आहारदान देने वाले दाता की पूजा-बन्दना करते हैं। उत्तम श्रावक के घर ग्रहण किया हुआ आहार साधुओं के ज्ञान और ध्यान की उड़ि करता है।

तुरगशतसहस्रं गोकुलं भूमिदानं,
सुरपूत्रिसमानं कोटिकन्याप्रदानं ।
सुवर्णरजतपात्रं मेदिनी सागरानन्ता,
नहि भवति समानमत्तदीनं प्रधानम् ॥

आनदान के समान कोई दान नहीं है। भगवान् आदिनाथ को बाहर भीनों के बाद राजा श्रेयस ने आहार दिया था जिसकी निमेल यशस्विनिका इस धरातल पर आज भी फैल रही है। भरत चक्रवर्ती ने भी श्रेयस राजा की पूजा की थी।

ज्ञानदान :—अज्ञानात्मकार से आच्छान्न जगत् के प्राणियों को सम्प्रज्ञान रूपी दिव्य सूर्य का आलोक प्रदान करना ज्ञान-दान है। ज्ञान-उद्धिके निमित्त मूनि एवं आर्याकांडों की शास्त्र प्रदान करना ज्ञान-दान है। ज्ञानदान के प्रभाव से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, अज्ञान का अन्धकार दूर होता है और जिनधर्म की महिमा का सर्वत्र प्रसार होता है। ज्ञान संसार-सागर से पर उत्तारने के लिए नौका-तुल्य है। नरक-रूपी महान्धन कूप में गिरते हुए प्राणियों का उद्धार करने में ज्ञान ही सर्वथा है। संसारोत्पत्त दुनिवार आतंक जन्म-जरादि महाकृष्णों से पीड़ित संसारी प्राणियों को शान्ति प्रदान करने वाला एक मात्र ज्ञान ही है। मुक्ति-रूपी द्वीपों के मुख-मुखक का अवलोकन करने के लिए समृद्धक योगिजन ज्ञान-रूपी अथाह समुद्र का मन्यन करते हैं। संसार की दुःख-रूपी अग्नि को बुझाने के लिए ज्ञान का सलिल ही सक्षम है। उर्जेय त्रिलोकजयी काम-रूपी सर्व की कीलने के लिए ज्ञान ही महा गारुड़ी मन्त्र है।

जिस दुर्मद मिथ्याज्ञान-रूपी निविड़ान्धकार को सूर्य और चन्द्रमा भी नष्ट नहीं कर सकते, उस निष्ठ्यात्मकार को ज्ञान का आलोक क्षणभर में नष्ट कर डालता है। इस संसार-महसूल में दुःख-रूपी अग्नि से संततायमान जीवों को ज्ञान का सुमधुर अमृत ही ज्ञानित प्रदान करता है। जब तक ज्ञान-सूर्य का उदय नहीं होता है तब तक अज्ञान का अन्धकार बना रहता है। ज्ञान-रूपी सूर्य के उदित होते ही अज्ञानात्मकार विलीन हो जाता है।

इन्द्रिय-रूपी मृग की बाँध रखने के लिए ज्ञान ही एक दृढ़ फौटी है। चित्त-रूपी सर्व का नियह करने के लिए ज्ञान ही सूर्यं समर्थ है, महामन्त्र है। ज्ञान ही राग-द्वेष रूपी शत्रुओं का संहार करने के लिए तीक्ष्ण खड़ा है और

निखिल तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए दिव्य आलोक है। अज्ञानी मानव अपने आपको कर्म-बन्धन में जकड़ता है, और ज्ञानी मानव कर्म-बन्धन को काट कर शाश्वत सुख का अनुभव करता है।

ज्ञान पात्र-रूपी तिमिर का जाण करने के लिए सूर्य-युग्म है, मुक्ति-रमा के निवास के लिए कमलबत है, मन-रूपी हस्ती को वश में करने के लिए अंकुश के सदृश है, विपत्ति-रूपी बादलों को छिक्र-भिन्न करने के लिए प्रबल पदन-सा है और विषय-वासना-रूपी मर्त्य को बाधने के लिए जाल के समान है।

ऐसे सम्प्रज्ञान की आराधना करते हुए दूसरों को ज्ञान प्रदान करना ज्ञान-दान है। ज्ञानावरणी आदि कर्मों के विपाक से युक्त, दुर्विति के दुःख-रूपी बाड़वानल की ज्वला से संतप्त, जन्म-मृदु-रूपी लहरों से परिपूर्ण और मिथ्यात्म-रूपी जलचरों से व्याप्त इस संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए जो ज्ञान नीक के समान है उस ज्ञान की आराधना करना प्रथेक मानव का परम कर्त्तव्य है। ज्ञान के समान संसार में सुख देने वाला और कुछ भी नहीं है। अतः प्रथेक मुमुक्षु जन को चाहिए कि आत्म कल्याण के लिए वह ज्ञान की सम्पुष्पासना करे तथा पूर्णत्वाणि के लिए मुक्त हस्त से ज्ञान-दान करें।

अभयदान :—द्वह काय के जीवों की रक्षा करना, अभय-भक्तण का त्याग करना और किसी भी प्राणी को मन-वचन-काय से पीड़ा नहीं पहुँचाना अभयदान है। विष, वेदन, शस्त्रवात आदि के भय से भय-विह्राह दीन-दुःखी प्राणियों की रक्षा करना अभयदान है। भयभीत धार्मिक जनों को भय-मुक्त करना अभयदान कहलाता है। अभयदान अन्य सभी दानों में सर्वश्रेष्ठ दान है। पंचतन्त्र में लिखा है :-

न गोप्रदानं न महीप्रदानं,
न चान्दानं हि तथा प्रधानम् ।
यथा वदन्तोह बुधाः प्रधानं,
सर्वं प्रदानेष्वभयं प्रदानम् ॥

अर्थात् सभी प्रकार के दानों में अभयदान को विद्वान् लोग जितना श्रेष्ठ बतलाते हैं उतना श्रेष्ठ न तो गोदान ही है, न भूदान ही है और न अन्दान ही है।

मुमेद पवर्त के बराबर सुवर्ण-दान देने से जिस पुण्य की प्राप्ति होती है अभयदान के प्रभाव से उससे भी सविशेष पुण्य की प्राप्ति होती है।

देविल और धम्मिल की कथा

गालव देश में देविल नाम का एक कुम्भकार और धम्मिल नामक एक नापिल रहता था। उन दोनों ने मिलकर एक धर्मशाला बनवायी। एक दिन देविल ने एक मुनिराज को धर्मशाला में ठहरा दिया। इसने में धम्मिल आया और आते ही उसने मुनिराज को बाहर निकाल दिया। सत्य ही है—दुराचारी और पापी मानव-रूपी उल्लू भूति-रूपी सूर्य को नहीं देख सकते। मुनिराज वहाँ से निकलकर एक बुख के नीचे ध्यानस्थ होकर बैठ गये। रात भर वे वही बैठे रहे। प्रभात के समय मुनिराज को बुख के नीचे आसीन देखकर देविल समझ गया कि यह सब धम्मिल की करतूत है। आधावेश में आकर वह धम्मिल के साथ लड़ पड़ा और उसे भला-दुरा कहने लगा। लड़ते-लड़ते दोनों ही मर गये। आर्तीध्यान-पूर्वक मरने के कारण दोनों को ही पशुगति मिली। देविल मरकर शूकर हुआ और धम्मिल आग्रा। एक दिन समाधियुक्त और निर्मुक्त नामक दो मुनिराज एक-फुका में ठहरे। उनको देखकर शूकर को जाति स्मरण हो गया। उसने मुनिराज के चरण-सानिध्य में श्रावक के त्रै ग्रहण किये। व्याघ्र के रूप में धम्मिल का जीव भी धूमसे-धामते वहाँ आ गया। मुनियों को देखकर वह तत्काल उन पर आक्रमण करने को तत्पर हो गया। शूकर ने



मुनिराज फुका में बैठे हुये ध्यान अवस्था में—देविल गरकर शूकर हुआ और धम्मिल व्याघ्र हुआ। दोनों आपस में लड़ते हुये।

उसका विरोध किया। दोनों का परस्पर महा भयंकर युद्ध हुआ और लड़ते-लड़ते दोनों ही मर गये। मुनि-धारक-ध्यान भयंकर बनधेर नरक में गया और मुनि रक्षक शूकर को देवगति की प्राप्ति हुई। ऐसा है अभयदात का पुण्य-प्रभाव।

ओषधिदान:—रोग-मरत मुनि, आविका, क्षुलक, क्षुलिका, आवक, आविका आदि को प्राप्तुक शौष्ठव देना तथा उनकी परिचर्यादि करना ओषधिदान है। ओषधिदान के प्रभाव से आविक-ध्यावि नष्ट हो जाती है तथा शारीरिक नीरोगिता की प्राप्ति होती है।

एक माली की लड़की ने एक मुनिराज की बैयाति की। मरकर वह आजने सुपुण्य के प्रभाव से धनपति सेठ की पुत्री दृष्टभृतेना हुई। उसके शरीर में एक ऐसी अलौकिक शक्ति थी कि उसके स्नान किये हुए जल को शरीर पर डालने से घसाध से घसाध रोग भी दूर हो जाता था। आजने उसी सुपुण्य के प्रभाव से वह राजा की पटरानी बन गयी। ओषधिदान का ऐसा ही सुप्रभाव है। अतः मानव को अवश्य ही ओषधिदान देना चाहिए। जिसने ओषधिदान दिया उसने कौनसा दान नहीं दिया। और कौन-सा तप नहीं किया? संसार-रोग से भयभीत प्राणियों के लिए श्रीष्ठिदान ही परम ओषधि है। स्वर्ग और मोक्ष के पथिक के लिए यही परम पार्थय है। ओषधिदान का पुण्य-फल सभी दानों के पुण्य-फल से बढ़कर है। अतः ओषधिदान देने के लिए मानव को सदैव तत्पर रहना चाहिए। इस दान के प्रभाव से मानव जन्म, मरण, रोग, शोक, दातिद्रिय आदि सन्तानों से सहज ही छुटकारा पा जाता है।

त्याग धर्म के महत्व का बया बर्णन करें। एक बार दो व्यक्ति परस्पर वातालाय करते हुए जारहे थे कि मानव त्याग से छूटता है और भोग से बैरता है। रास्ते में एक किसान का घर था। उसके घर एक पिजरे में एक तीता था। पिजरबद्ध तीते ने उनके इस वातालाय को सुनकर विचार किया कि अहो! जब प्राणी त्याग से छूटता है तो मैं भी इस बन्धन से छूटने के लिए खाली-भीने एवं श्वासोच्छ्वास का त्याग करता हूँ। ऐसा विचार करके उस तीते ने खाली-भीने एवं श्वासोच्छ्वास का त्याग कर दिया और आँखें मूँदकर निश्चेष्ट भाव से गिर पड़ा। किसान ने उसे रोगी समझकर उसका उपचार किया, पर सारे उपचार व्यथा सिद्ध हुए। अन्त में किसान ने उसे मरा समझकर पिजरे से बाहर निकाल कर उसीन पर छोड़ दिया। इस प्रकार सुग्रवसर पाते ही वह तीता वहाँ से उड़ मया और पिजर से स्वच्छन्द होकर विचरण करने लगा।

जिस प्रकार त्याग करने से तीता बन्धन से छूट गया, उसी प्रकार यह आत्मा शरीर के विषय भोगों का त्याग करके संसार-रूपी पिजरे के बन्धन से छूट सकता है। अतः त्याग की भावना निरन्तर हृदय में रहनी चाहिए।

सत्पात्र को दिया हुआ दान चारित्र का संबंध करता है, विनय को बढ़ाता है जान की बढ़ि करता है, प्रथम भाव को परिपक्व करता है, तप को प्रबल करता है, आगम-ज्ञान को उल्लिखित करता है, पुण्य की जड़ों को पुष्ट करता है, पापों को है, स्वर्ग-भूख प्रदान करता है और कम से मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करवाता है।

दान देने समय दाता के परिणाम प्रत्यन्त विशुद्ध होने चाहिए। विशुद्ध परिणामों से ही दाता को सुगति की प्राप्ति होती है। दान देने की बात छोड़िए जब राजा दान की अनुमोदना करने वाला भी उत्तम भोग-भूमि में जन्म लेता है। जब राजा बज्रजंघ और राजी श्रीमती भक्तिपूर्वक मुनियों को आहार दान दे रहे थे, उस तपस्य सिंह, नेवला, बैल, बन्दर आदि पशु दातार की प्रेणसा कर रहे थे। दान के माहात्म्य से राजा और राजी को उत्तम भोग-भूमि की प्राप्ति हुई तथा दान की अनुमोदना करने वाले उपपुरों को भी उसी भोग-भूमि की प्राप्ति हुई। कर्म भूमि के प्रारम्भ में बज्रजंघ का जीव प्रथम तीर्थझर श्री ऋषभनाथ के रूप में अवतरित हुआ और राजी श्रीमती का जीव श्रेणीच राजा हुआ जो दान के अवतरित हुए। इस प्रकार दान की महिंगा अद्युत है। जो मानव श्रद्धा, प्रथम प्रवर्तक हुए। इस प्रकार दान की महिंगा अद्युत है। जो मानव कर्त्तव्य समझकर सत्पात्रों को दान देता है उसके सभी विनय और पूर्वक अपना कर्त्तव्य समझकर सत्पात्रों को दान देता है। उसके सभी विनय और उपद्रव शान्त हो जाते हैं। शुभलक्ष्मी की शोभा दान से ही है। दाता के घर में दरिद्रता कभी नहीं आती। दान देने वाले को दुर्भाग्य कभी नहीं सताता। व्याधियों कभी नहीं आती। दीनता उसके पास नहीं कटकती। आपत्तियों उससे दूर रहती हैं, भय और क्षोभ उत्पन्न नहीं होता है। संसार में दानी की कभी भी अपकौटी नहीं होती।

जो व्यक्ति अपने धनरूपी बीज को जिन प्रतिमा, जिन मन्दिर, श्रुतज्ञान, मुणि, आधिका, श्रावक, आधिका—इन सात क्षेत्रों में बोता है कीर्ति उसकी दासी बन जाती है, स्वर्ण की लक्ष्मी उसके हृष्ट में आ जाती है और चक्रवर्ती की विशृतियाँ उसके चरणों में लोटती हैं। इसलिए सत्पात्रों को दान देना, उनकी सेवा-भक्ति करना, श्रीविद्यान देना, उनके दुःख, संकट, उपर्युक्त आदि को दूर करना, उनकी ज्ञान-बृद्धि के लिए शास्त्रों का वितरण करना आदि को परम कर्तव्य है। मिष्ठ वचन बोलना, सत्पात्रों का ग्रादर-सल्कार करना, एवं कुशल-क्षेत्र पूछना भी महादान है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभादि को छोड़ना भी त्याग धर्म है। निश्चय नय की अपेक्षा अपने ज्ञानमय आत्म-स्वरूप को छोड़कर समस्त परभावों का त्याग करना भी त्याग धर्म है। त्याग के बिना शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। उत्तम त्याग धर्म का निर्वाह वही कर सकता है जिसका मिथ्यात्म छूट गया है तथा जिसकी कथाएँ शान्त हो-

[७४]

गयी हैं। उत्तम त्याग वही है जिसमें निराकुलता होती है। त्याग धर्म ही सच्चा श्रेयोमार्ग है। आत्म-कल्याण के इच्छुक मानव को उत्तम त्याग धर्म अवश्य ही धारण करना चाहिए।

त्याग धर्म

व्यक्तसंगं मुदात्मनं त्यागं सर्वमुखाकरम् ।
पूजया परया भक्त्या पूजयामि तदात्मये ॥

जो परिप्रह के त्याग से प्राप्त होता है और सब प्रकार के मुखों का आगार हैं उस त्याग धर्म की मैं उसकी प्राप्ति के लिये मोद और भक्तिपूर्वक बड़ी विभूति के साथ पूजा करता हूँ।

चाउ वि धम्मंगत तं जि असंगत शियसत्रिए भनिए जयाहु ।
पत्तहूं सुपवितहूं तव गुण चुडाहूं परगद संबलु तं मुण्डहू ॥

त्याग भी धर्म का ऋग है। वह नियम से अभज्ञ है। तप गुण से युक्त अत्यन्त पवित्र पात्र के लिये अपनी शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक उस त्याग धर्म का पालन करना चाहिये। वह अन्य गति के लिये पापेय के समान है।

चाए अवगुण गण जि उहट्टू, चाए शिस्मल किति पवहइ ।
चाए वपरिव परणमइ पाए, चाए भोग भूमि सुह जाए ॥

त्याग से अवगुणों का समुदाय दूर हो जाता है, त्याग से निर्मल कीर्ति फैलती है, त्याग से बैरी पैरों में नमस्कार करता है, और त्याग से भोग भूमि के सुख मिलते हैं।

चाए विहज्जइ शिच्च जि विणाए, सुह वयण्ह भासेष्पिण्ण पणए ।
अभयदाणु दिज्जइ पविलारउ, जिमि णासइ परभव दुश्यारउ ॥

विनय करके और प्रेमपूर्वक शुभ वचन बोलकर सदा नियमपूर्वक त्याग करना चाहिये। सर्व प्रथम अभयदान देना चाहिये जिससे परभव सम्बन्धी दुःखों का नाश होता है।

सत्पदाणु बीजउ पुण किज्जइ, शिस्मल णाणु जेण पाविज्जइ ।
ओसहु दिज्जइ रोय विणासणु, कह विण पेच्छइ बाहि पथासणु ॥

दूसरा शास्त्रदान भी करना चाहिये, जिससे निर्वल ज्ञान की प्राप्ति होती है। रोगों का नाश करने वाला श्रीविद्यान देना चाहिये, जिससे कहीं भी व्याधियों का प्रकाशन नहीं दिखाई देता।

[७५]

आहारे धणरिदि पवट्टइ, चउचिहु चाउ जि एहु पवट्टउ।
अहवा दुष्ट वियप्पह चाए, चाउ जि एहु मुण्ह समवाए॥

आहारदान से धन और कृदियों की प्राप्ति होती है। नियम से यह चार प्रकार का त्याग धर्म है जो सनातन काल से चला आ रहा है। अथवा दुष्ट विकल्पों का त्याग करने से त्यागधर्म होता है। समुच्चय रूप से इसे भी त्याग धर्म मानो।

दुहियह दिजइ दायु किजजइ माणु जि गुणियराहं।
दय भावियह अमंग दंसणु चिरिजजइ मराहं॥

दुखी जनों को धन देना चाहिये, गुणीजनों का मान करना चाहिये एक मात्र ददा की भावना करनी चाहिये और मन से सम्पर्क दशन की प्राप्ति का चिन्तवन करना चाहिये।

॥ उत्तम त्याग धर्म की जय ॥



उत्तम आकिञ्चन्य

शरीर से भिन्न ज्ञान-स्वरूप, निरपम, वर्णगन्धादिक से रहित, अनन्त सुख से सम्पन्न, ग्रन्तीन्द्रिय, परम शुद्धात्मा का ध्यान करना ही आकिञ्चन्य धर्म है। समस्त परिप्रह का त्याग करना, आत्मा में शुद्ध ध्यान करने की शक्ति का प्रकट होना, ममत्व परिणामों का त्याग करना, जेतना जेतनात्मक इयों के उत्तरांगन का परित्याग करना तथा रत्नत्रय में प्रवृत्ति करना आकिञ्चन्य दृष्टि है। जिसके पास कुछ नहीं है, वह आकिञ्चन्य का भाव आकिञ्चन्य है। किसी भी परवस्तु में ममत्व नहीं रखना अथवा किसी भी पदार्थ को अपना नहीं समझना आकिञ्चन्य है। पर का ममत्व ही समस्त दुःखों का मूल है। जब परपदार्थों को अपना समझा जाता है तब उन पदार्थों के विनाश या वियोग से दुःख होता है। परन्तु जो किसी भी परपदार्थ को अपना नहीं मानता उसे दुःख किस बात का। दुःख का मूल समझा है और सुख मूल समझा। सपता भाव को प्राप्त करने के लिए परिप्रह का त्याग आवश्यक है।

किसी भी परपदार्थ को ममत्व भाव से ग्रहण करना, उसमें ममता, सूर्चा, लोकुपता रखना परिप्रह है। अन्तरंग और बहिरंग के भेद से परिप्रह दो प्रकार का है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगाड़, रसी, पुष्प, नर्तुसंक यह तीन वेद मिथ्यात्म, क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से अन्तरंग परिप्रह चौदह प्रकार का है। क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य, सुरांग, धन, वाच्य, दास, दासी, कुप्य और भाष्ड के भेद से बहिरंग परिप्रह दस प्रकार का है। अन्तरंग और बहिरंग इन चौबीस प्रकार के परिप्रह का त्याग करना आकिञ्चन्य धर्म है।

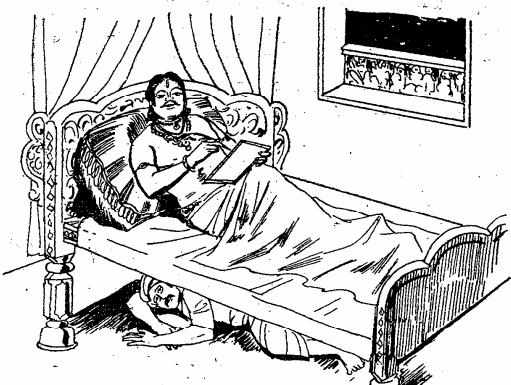
जिन विष्वं जिनागारं जिनयात्रा प्रलिङ्गतम् ।
दानं पूजा च विद्यान्तः सत्र ज्ञेन प्रकीर्तितम् ॥

आकिञ्चन्य धर्म को धारण करने वाला ऐसा विचार करता है कि जब यह शरीर ही भेरा नहीं है तो दूसरे पदार्थ भेरे कैसे हो सकते हैं। यह आत्मा अनादिकाल से कर्मों के साथ एक शेत्रावगाही हो रहा है। मिथ्यात्म कर्म के उदय से

प्राणी इस शरीर को अपना मान बैठता है, अपने ज्ञायक स्वभाव को भूलकर रागद्वयादिक भाव कर्मों की तथा भाव कर्मों से उत्पन्न द्रव्य कर्मों को अपना मान लेता है। तथा इसी कारण वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है। यदि प्राणी को अपने आत्मस्वरूप का बोध ही जाय तो धरण्डर में वह उत्तम आर्किचन्य धर्मों को धारणा करके संसार परिभ्रमण से मुक्त ही जाय।

राजा भोज और चार चोरों की कथा

एक दिन राजा भोज अपने शयनामार में सुख की गहरी नीद में सो रहे थे। चार चोर चोरी करने के उद्देश से उनके महल में घुस गये। बहुत-सा माल बोधकर वे जाने लगे। अचानक उनकी दृष्टि पलंग पर पड़ी जहाँ तकिये के नीचे मोतियों की बहुमूल्य माला पड़ी थी। लोभ-बग एक चोर ने माला को पकड़ कर जोर से लौंचा। फटका लगने के कारण राजा की नीद टूट गयी। तीन चोर तो तकलीफ भाग खड़े हुए पर वह चोर न भाग सका। मुरता की दृष्टि से वह पर्वत के नीचे छिप गया। राजा भोज अचानक फटका लगकर नीद उचट जाने के कारण पर विचार करने लगे, पर उहाँ कुछ भी समझ में नहीं आया अन्त में अपनी कलम उठाकर वे प्रतिदिन की प्रतिज्ञानुसार ख्लोक रखना में लग गये। एक घण्टे में वे



राजा भोज अपने शयनामार में पलंग पर सोते हुये—
चोर चोरी करने के लिये पलंग के नीचे छुपा हुआ।

तीन चरण तो लिख चुके थे, पर चौथा चरण नहीं लिख पा रहे थे, वे बार-बार तीनों चरणों को दोहराने लगे—

**चैतोहरा युवतयः सुहृदोजनुक्लाः
सद्बान्धवाः प्रणाय गम्य गिरश्च भृयाः।
गर्जेति दिन्तिनिहवाशचपलास्तुरंगाः।**

पर चौथा चरण किसी भी तरह नहीं बन पा रहा था। इधर प्रातःकाल ही रहा था, अतः वह चोर डर रहा था कि मैं अवश्य ही पकड़ा जाऊँगा। एकाएक उसे याद आया कि जो कोई नवीन काव्य या श्लोक रच कर लाता है महाराजा भोज उसे पुरस्कार में एक लाल स्वर्ण मुद्राएँ देते हैं। अतः इस चौथे चरण की पूति में ही क्यों न कर दूँ। पकड़ भी लिया गया तो कम से कम पञ्चीस हजार स्वर्ण मुद्राएँ तो मिल जायेंगी। मुझे अगर चोरी के अपराध में वर्षे दो वर्ष की सजा भी हो गयी तो मेरे बाल-बच्चे भूले तो नहीं मरेंगे। ऐसा विचार कर चोर ने जब राजा ने वे तीन चरण दोहराये तो, चौथा चरण रच कर मुना दिया—

सम्मीलिते नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति ।

राजा भोज के तीन चरणों का अर्थ था—मेरे पास वित्तहरण करते वाली स्थियाँ हैं, पिय और अनुकूल प्रदृष्टि करने वाले मित्र हैं, आज्ञाकारी भूत्य हैं, मेरे डार पर मदोमत्त गजराज गरजते हैं तथा चंचल छोड़ हितहिते रहते हैं। परन्तु चोर के चतुर्थ चरण का अर्थ था—‘प्राँखें बद्द हो जाने अव्याप्त मर जाने पर (इनमें से) कुछ भी (तेरा) नहीं है।’

यह सुनकर राजा भोज उठ खड़े हुए और पूछा—कौन है? चोर बाहर निकल कर कम्पित स्वर में जौला—महाराज! मैं एक चोर हूँ। दरिद्रता के कारण मैं अपने तीन साथियों के साथ चोरी करने के लिये आपके महल में आया था। मेरे तीनों साथी भाग गये, पर दुर्भाग्यवश मैं भागने में सफल नहीं हो सका। इतना कह कर वह महाराज के चरणों में घिर पड़ा। राजा भोज ने उसे उठाकर छाती से लगा लिया और कहा—भाइ! अपने आपको चोर मत कहो। तुम मेरे भाइ हो, सन्मित्र हो। तुमने—सम्मीलिते नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति—कह कर आज मेरी अर्खें खो ली हैं, मुझे एक नव आलोक प्रदान किया है। तत्पश्चात् राजा भोज ने पञ्चीस हजार स्वर्ण मुद्राएँ देकर उसे विदा कर दिया। इस प्रकार जब वह चोर चला गया तो राजा भोज अपने अन्तर्मन में विचार करने लगे—विकार है मुझे जो पर पदार्थों में लित होकर इतना अभियान करता था। यह परियह अपना कहाँ है? यह परियह, यह समस्त भव तो समस्त दुःखों और अनर्थों की जड़ है। इनको छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। ऐसा विचार

कर उहोने समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया और आत्म-कल्याण के मार्ग में लग गये।

दो सहौदर भाई और रत्न की कथा

अहिंदेव और महिंदेव सगे भाई हैं। दोनों व्यापार करने के लिए परदेश गये। दोनों ने प्रचुर धन कमाकर एक बहुमूल्य रत्न खरीदा। रत्न ऐसा था कि जिस भाई के पास रहे उसी के हृदय में दूसरे भाई को मार डालने का भाव पैदा हो जाता था। परन्तु दोनों भाइयों में वरस्तर अत्यधिक प्रेम था, अतः किसी तरह वे एक दूसरे की हत्या करने से बचते रहे। शीघ्र ही धर लौटकर उन्होंने वह रत्न अपनी माता को भेंट कर दिया। रत्न पाते ही माता के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भोजन में विष देकर इन दोनों को कौनों न मार दूँ ताकि यह रत्न सदा के लिए मेरे ही पास रहे। रात भर वह यहीं सोचती रही। प्रत्यकाल एक मुनिराज का व्यापारिण मुनुकर उसका हृदय बदल गया और वह सोचने लगी—विकार है मुझे, जो इस पत्थर के लिए अपने ही युत्रों को मारने के बारे में सोचती लगी। इस परिग्रह-पिण्डाच की विकार है। वर आकार उसने अपने युत्रों को सारी बात कह मुनाफी और अरेय दिया कि इस अनिष्टकारक रत्न को किसी अग्रास सरोवर या समुद्र में फेंक दो—इसे अपने पास रखना तो दूर रहा, मैं इसे देखना भी नहीं चाहती। युत्रों ने उसकी आकांक्षा का पालन किया और उसके बाद वे सभी शान्त रहने लगे।

परिग्रह-रूपी ग्रह से पीड़ित मानव को कभी भी और कहीं भी शान्ति नहीं मिल सकती है। जिस प्रकार मांस का डुकड़ा आकाश में परियों द्वारा, जल में जलचरों द्वारा और धूमि पर थलचरों द्वारा ला लिया जाता है उसी प्रकार परिग्रह-प्रात्यक्ष मानव सर्वत्र सबके हारा दुःखित किया जाता है।

हे! आत्मन! यदि मुख्य-रमा के मुख्यनन्द का दर्शन करना चाहते हो तो मूर्छा-रूपी प्रिया को छोड़ दो। जिस प्रकार वायु के प्रयोग से रहित स्वायत्र में मध्याह्न के समय सारे दुख बंचलता को छोड़कर अपने स्वरूप में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार अपरिग्रही मानव आत्म-व्यरूप में लीन हो जाते हैं। परिग्रह ही दुःख आकुलता तथा समस्त संकल्प-विकल्प का कारण है। भौतिक पदार्थों की आत्मता से विवेक नष्ट हो जाता है, आत्मा निज-स्वरूप से विमुक्त होकर एवं राग-दृष्टि के वशीभूत होकर अनेक दोषों का सेवन करता हुआ लक्ष्य-ऋष्ट हो जाता है। जिस प्रकार छिलके सहित धन में भीतरी निर्मलता दुर्लभ है। अतः बाह्य परिग्रह आसक्त मानव के हृदय में विशुद्धि का होना दुर्लभ है। अतः हृदय की कलुषता को उत्पन्न करने में कारण-भूत तथा अवान को बढ़ाने वाले परिग्रह का त्याग करके आकिञ्चन्य धर्म को स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है।

५०.]

यह परिग्रह धर्म-रूपी वृक्ष को उखाड़ने वाला है, नीति, दया, धर्म रूपी कमलिनी को नष्ट करने के लिए तुपार के समान है, लोभ-रूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा-सा है, शुभ ध्यान-रूपी हंस को परदेश (पर-पदार्थों) में गमन करने के लिए वरदाना-काल के सदृश है, कलह-रूपी हाथी के बच्चे के निवास के लिए विद्युत सरीखा है, श्रोध-रूपी गुद वक्षी के लिए इमशान-भूमि-सा है, सन्त व्यसन-रूपी सर्पों के लिए विल के सदृश है, द्वेष रूपी चोर के लिए कृष्ण पक्ष की राजि है, पुरुष-रूपी बन को जलाने के लिए दावानाल है, कोमल परिणाम रूपी मेघ को छिन्न-भिन्न करने के लिए तीक्र पवन के समान है, नव-रूपी सन्मार्ग का धातक है, समता भाव का शत्रु है, व्याकुलता का भण्डार है, आपत्तियों का जनक है, पापों की खान है, दुर्गति का ढार है, स्वर्ग एवं मोक्ष मार्ग का निरोधक है, नरक का प्रशस्त मार्ग है और आत्म एवं रौद्र ध्यान का कारण है। अतः जो परिग्रह समस्त अन्यों की जड़ है उस परिग्रह को छोड़कर आकिञ्चन्य धर्म को धारणा करना चाहिये।

उत्तम आकिञ्चन्य धर्म आत्मा में श्रद्धाभाव उत्पन्न करता है कि अपनी आत्मा ही अपनी शरण है, गेष सभी पर द्रव्य अशरण हैं—आत्म-स्वभाव के निष्ठातक हैं। आत्म-इच्छा को छोड़कर अपना कुछ भी नहीं है। द्रुष्ट और पाती के समान धुल-मिल कर रहे वाला यह शरीर भी अपना नहीं है तब अन्य पदार्थों के पापने कैसे हो सकते हैं। अनादिकाल से पर पदार्थों को अपना मानकर पहुँच जीव संसार में परिग्रहण कर रहा है। पर में स्वदुद्धि ही संसार का कारण है। अतः पर-पदार्थों की समता अथवा सांसारिक पदार्थों के प्रति मंसेद की भावना का त्याग करके और समस्त प्रकार के परिग्रह से विनिर्मुक्त रहते हुये उत्तम आकिञ्चन्य धर्म की शरण ग्रहण करनी चाहिये क्योंकि आकिञ्चन्य धर्म ही उत्तम धर्म है।

“आकिञ्चन्योऽहमित्यास्त्वं त्रैलोक्याधि पतिभवे”

आकिञ्चन्य धर्म

आकिञ्चन्यं समत्वादि क्लद्वुरं सुखाकरम्।
पूजया परया भक्त्या पूजयामि तदाप्तये॥

समत्व आदि के त्याग से उत्पन्न हुए और सुख के आकरभूत आकिञ्चन्य धर्म की मैं उसकी प्राप्ति के लिये भक्तपूजक बड़ी विभूति के साथ पूजा करता हूँ।

आकिञ्चणु भावहृ अप्यज्ञ फावहृ, देहहृ भिरण्डु ग्राणामज्।

पिरुक्षम गय वण्डु, सुहृ संपण्डु उपर अतिदिव्य विगवमज्॥

आकिञ्चन्य धर्म की भावना इस प्रकार करो कि आत्मा देह से भिन्न है, ज्ञानमय है, उपमारहित है, वर्णरहित है, सुख से परिपूर्ण है, परमोक्तुष्ट है,

[५१

आतीनिद्रिय है और भय रहत है। इस प्रकार आत्मा का ध्यान ही आकिञ्चन्य धर्म है।

आकिञ्चणु वउ संगह गिविति, आकिञ्चणु वउ मुहभारा सति ।
आकिञ्चणु वउ वियलिय भमति, आकिञ्चणु रथणा त्रय गविति ॥

सब परिग्रह से निवृत होना आकिञ्चन्य व्रत है। चार प्रकार के शुभ ध्यानों को करने की शक्ति होना आकिञ्चन्य व्रत है। भमत्व से रहित होना आकिञ्चन्य व्रत है और रत्नत्रय में प्रदृष्टि होना आकिञ्चन्य व्रत है।

आकिञ्चणु आउंचियइ लितु, पसरंतउ इंदिय वणि विचितु ।
आकिञ्चणु दहुङ् रोह चतु आकिञ्चणु ज भव मुह विस्तु ॥

आकिञ्चन्यव्रत विचित्र इन्द्रियरूपी वन में फैलने वाले भन की आकुञ्जित्व करता है। वेह से स्नेह का त्याग करना आकिञ्चन्यव्रत है और भवसुख से विरक्त होना भी आकिञ्चन्यव्रत है।

तिएमितु परिग्रहु जस्थ राण्यि, आकिञ्चणु सो गियमेणा अर्थि,
अप्पापार जस्थ वियार कस्ति, पदिङ्जजइ जहि परमेष्ठि भति ।
छिङ्जजइ जहि संकल्प दुःठ, भोयणु वंशिङ्जजइ जहि ग्राण्डू,
आकिञ्चणु घम्मु जि एम होइ, तं भाइज्जजइ गिरु इत्य लोइ ॥

जहाँ पर त्रुणामात्र परिग्रह नहीं होता वह नियम से आकिञ्चन्य व्रत है। जहाँ पर रत्न और पर के विचार करने की शक्ति है जहाँ पर परमेष्ठी की भक्ति प्रकट होती है, जहाँ पर दुष्ट संकल्पों का त्याग किया जाता है और जहाँ पर रुचिकर भोजन की बांधा नहीं रहती वहाँ आकिञ्चन्य धर्म होता है। मनुष्य को इस लोक में उसका ध्यान करना चाहिये।

एहु जि पहाँ लद सहावें तित्वेसर सिव गायरि गया ।
गय काम वियारा पुणि रिति सारा वंदेयज ते तेण समा ॥

इस आकिञ्चन्य धर्म के प्रमाव और सहायता से तीर्थंकर मोक्षरूपी नगरी को प्राप्त हुए हैं। इसी के कारण काम विचार से रहित कृषिवर सदा बन्दीय होते हैं।

॥ उत्तम आकिञ्चन्य धर्म की जय ॥

उत्तम ब्रह्मचर्य

नरक प्रलोभी स्त्री का त्याग करके ब्रह्म में अथात् आत्मा में रमण करना या प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ आत्मा में रमण करना है। परंतु आत्मा में आत्मा का रमण तभी संभव हो सकता है, जब चित्त द्वितीय विषय-बासनाओं से निर्विप्त हो अथवा विषयाशा से रहित होकर चित्त एकाग्र हो।

ब्रह्मचर्य-संरक्षण के लिए केवल भोगेच्छाओं का निरोध करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु तद्विषयक वासनाओं एवं साधन सामग्री का निरोध भी आवश्यक है। विषय-वासनाओं के निरोध के अभाव में ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथाओं का श्वरण नहीं करना चाहिए, उनके समीकरणों का रागभाव से अवलोकन नहीं करना चाहिए, पूर्व में भोगे हुए भोगों को याद नहीं करना चाहिए, कामोपादक गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए, शरीर का शृंगार नहीं करना चाहिए एवं जहाँ स्त्रियाँ उठती बैठती हैं वहाँ उठना बैठना नहीं चाहिए या स्त्रियों की संगति से दूर रहना चाहिए। उपर्युक्त वातें ब्रह्मचर्य व्रत की वातक हैं। इसीलिए आचार्यों ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वालों के लिए स्त्री सम्पर्क से दूर रहने का उपरेक्षा दिया है। स्त्रियों का समागम ही संसार की वृद्धि का मूल कारण है, क्योंकि स्त्री-समागम से पंचेन्द्रियों के विषय स्वयंमेव पुष्ट होने लगते हैं।

स्त्रियों युएं के समूह को खिलूत बरने के लिए साधात् दुर्मति हैं, मोक्ष-मार्ग को अवश्य करने के लिए अर्णवान के समान हैं। स्त्रियों का केश पास मानव-रूपी भुग्नों को बांधने के लिए जाल-तुल्य है। स्त्रियों की शृङ्खली-रूपी लता का विलास संसार-रूपी दृष्ट पर चढ़ने का उपाय है। स्त्रियों के नेत्र-युगल संसार-चक्र की बुमाने वाले हैं। स्त्रियों की मधुर वारी दुख-रूपी अटबी में भटकाने वाली है। स्त्रियों के अघर-पल्लव विवरक के समान हैं। स्त्रियों का नितम्ब-मण्डल यम-रूपी सर्प की निवास भूमि है। स्त्रियों की बांधने वाली रज्जु है। स्त्रियों के कुच-युगल विष से भरे हुए कनक कटोरों के समान हैं। ऐसा विचार करके जो स्त्रियों से सर्वथा विरक्त हो जाते हैं

वे ही निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने में समर्प होते हैं। इतिहासों के आर्थिकन भी अथवा उनको देखने की इच्छा करना भी ब्रह्मचर्य व्रत का धार करना है।

ब्रह्मचर्य व्रत की विराचना के दश भेद हैं:—(१) स्त्रो-संसर्गः—स्त्रियों की संगति करना, (२) सरसाहारः—अत्यन्त सुखादु कामोत्पादक आहार ग्रहण करना, (३) सुगम्भ-संस्कारः—तैल, उबटन आदि सुगमित्र पदार्थों से शरीर का संस्कार करना, (४) कोमल शयनासनः—कोमल शयना पर सोना बैठना, (५) शरीर-मण्डनः—शरीर का शुगार करना, (६) गीत वादित्र अध्यात्मः—कामोत्पादक गीत वादन आर्ति का सुनना, (७) अर्थ-ग्रहणः—अर्थ का ग्रहण करना, (८) कुशील-संसर्गः—कुशीलों अथवा दुष्ट जनों की संगति करना, (९) राज सेवा:—राजा की सेवा करना और (१०) रात्रि-संचरणः—रात्रि के समय इधर-उधर विचरण करना। इन दस बातों से ब्रह्मचर्य व्रत की विराचना होती है। अतः ब्रह्मचर्य व्रत धारी इन दस बातों का पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य के समान जगत् में कोई सुखारी वस्तु नहीं है। ब्रह्मचर्य के सदृश अन्य कोई व्रत नहीं है। ब्रह्मचर्य व्रत अंक के समान है तथा दूसरे व्रत शून्य के समान है। कहा भी याहै:—

अंकस्थाने भवेच्छीलं शून्याकारं व्रतादिकम् ।
अंकस्थाने पुनर्नन्देऽसर्वं शून्यं व्रतादिकम् ॥

शून्य किनी भी अंक को दश-गुणा कर देता है, परन्तु अंक के बिना शून्य का कोई महत्व नहीं है। जिस प्रकार सम्यक्तव के बिना ज्ञान और चित्रित का कोई महत्व नहीं है, उसी प्रकार शील व्रत के बिना अहिंसादिक ब्रतों का कोई भी महत्व नहीं है। कुशील मानव इस लोक और परलोक—दोनों ही जगह दुखी होते हैं। ब्रह्मचर्य की विराचना करने वाले को इस लोक में अपयश का भाजन बनना पड़ता है, कारणह के कष्ट भोगने पड़ते हैं और परलोक में नरकादि गतियों के दुख उठाने पड़ते हैं।

ब्रह्मचर्य के समान उत्तम व्रत नहीं है। इस महावृत्त से अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। यह पुण्य का संचय करता है और पारों का बिनाश करता है। जो देवों के द्वारा प्रशंसनीय ब्रह्मचर्य व्रत का आश्रय ग्रहण करते हैं उनके सारे उपसर्ग अनायास ही हीर हो जाते हैं और स्वर्ग के देवता भी उनकी वन्दना करते हैं।

६४]

सुदर्शन सेठ तथा रानी की कथा

इस भरत क्षेत्र में परम धार्मिक एवं परोपकारी सुदर्शन नामका एक सेठ पुत्र था। एक दिन वह अपनी पत्नी के साथ कीड़ियान करने के लिए कीड़ीघान में सत्या। संयोग से राजा भी अपनी रानी के साथ कीड़ियान करने के लिए वहाँ आया हुआ था। सोन्दर्य-मूर्ति सुदर्शन को देखकर रानी अवाकृ रह गयी और सोचने लगी—अहो! यह कौन है। क्या यह काम देव है अथवा कोई नागकुमार है अथवा कोई विद्याधर है? ऐसा रूप तो मैंने आज तक कहीं नहीं देखा। उसके रूप और सोन्दर्य पर विमुग्ध होकर वह काम-विहळ हो गयी और अपनी विश्वसनीय परिचायिका को बुलाकर पूछने लगी—क्या तू जानती है कि महाराज के साथ यह अपर पुण्य कीन है और कहाँ का रहने वाला है? परिचायिका ने कहा—देवि! क्या आप नहीं जानती कि मैं सुप्रतिष्ठ राज-वेष्टी सुदर्शन हैं। तब रानी ने कहा—अरे तब तो ये अपने नगर के भ्रष्ट हैं। देख तो सही कितनी मनहर आकृति और कितना चित्ताकर्षक रूप है। मैंने तो आज तक ऐसा रूप-सम्पन्न नर-रत्न नहीं देखा। इनका रूप तो स्वर्ग के देवों से भी मनोज्ञ है। क्या तूने कभी ऐसा रूपधारी पुण्य देखा है? यह सुनकर परिचायिका ने कहा—देवि! इनके समान तो तीनों लोकों में कोई भी मानव नहीं है।

रानी का मन सुदर्शन को पाने के लिए अधीर हो उठा। अतः लज्जा को छोड़कर रानी ने कहा—हे सखि! इस पुण्य रत्न के बिना मेरा जीना व्यथ है। इसके सोन्दर्य-रूपी पत्न के भक्तों से मेरा मन अत्यधिक चंचल हो उठा है। इसके बिना मेरा जीना असंभव है। अतः जैसे भी हो तू इससे मुक्ति मिलाने का प्रयत्न कर।

रानी की बात सुनकर परिचायिका आश्रय चकित हो गयी और अपने मन में इस प्रकार विचारने लगी—अहो! इस काम-वासना को धिक्कार है जिसके बायींभूत होकर मानव अपने धर्मकर्म को भी भूल जाता है। यह उचित ही कहा गया है:—

पराराधनजादेन्यात् पैशून्यात् परिवादतः
पराभवात्किमन्येष्यो न विभेति हि कामुकः।

अर्थात् काम से पीड़ित मानव दूसरों की आराधना से उत्पन्न हुई दीनता से, चुगली से, निन्दा से तथा अपमान से भी नहीं डरता है, अन्य बातों से डरने की बात ही क्या है।

पांक त्यागं विवेकञ्च वैभवं मानितामपि ।
कामात्तीः खलु मुचन्ति किमन्यैः स्वञ्च जीवितम् ॥

[८५

ग्रथित कामातं व्यक्ति पवित्रता, त्याग, विवेक, वैभव, मान-सम्मान आदि को तिलाङ्जलि दे देता है, अन्य वस्तुओं को व्या, अपने प्राणों को भी छोड़ देता है।

कामयासना सबसे बड़ी व्याधि है। जब तक काम-व्याधि उत्पन्न नहीं होती है तभी एक मानव ध्यान, अध्ययन आदि में प्रवृत्ति कर सकता है। ऐसा विचार करती हुई परिचारिका ने रानी को समझते हुए — देवि ! यह कुशील निर्मल वंश को मिलन करने वाला है, युण-समूह लौटी उपवन को भ्रम करने के लिए अनिन्दु त्रुप्त है, सोक्ष-महल के द्वार को बन्द करने वाला है और दुर्जिति में ले जाने वाला है। अतः आप इस कुशील का परित्याकरक शीत वारण करें, क्योंकि शीत ही नारी का बहुशत्रु आभूषण है, पाप-पंक को धोने के लिए निर्मल जल के सूखे हैं तथा मुक्तिनारी की ओर ले जाने वाला प्रशस्त राज मार्ग है। हे देवि ! आप विचार कर क्षेत्र कि आप जो कुछ करने जा रही हैं क्या आप के लिए वह उचित है। इस प्रकार उस परिचारिका ने रानी को अनेक प्रकार से समझाने का प्रयास किया, पर काम पीड़ित रानी ने उसकी एक भी नहीं सुनी। वह बार-बार उससे एक ही बात कहती रही कि—यदि तू मेरी सच्ची सेविका है तो मेरी मनोकामना पूरी कर, अन्यथा मेरी मृत्यु निश्चित है। परिचारिका आविष्कार कर रानी की परिचारिका थी। जब उससे रानी की काम-विहूल दशा नहीं देखी तो उसने कहा—देवि ! आपकी इच्छा की पूर्ति में अवश्य ही कही। उसी दिन से वह सुदर्शन को रानी के महल में लाने का हर सम्भव प्रयत्न करने लगी।

सुदर्शन अलान्त चर्चा-परायण आवाक था। वह संसार के भोगों से विरक्त हो गया था। अट्टीरी और चतुर्दीर्घी के दिन वह रात्रि के समय भयकर अट्टीरी अथवा शमशान में जाकर आत्म-ध्यान में लीन हो जाता था। रानी परिचारिका सुदर्शन के सम्बवध में ये सब बातें जानती थीं।

रात्रि के समय सुदर्शन को महल में लाने के लिए उसने एक उपाय रचा कुम्भकार से उसने एक पुरुषकांड मिट्टी का पुतला बनवाया। एक दिन रात्रि के समय उस पुतले को वस्त्रादि पहनाकर एवं अपने मथे पर रख कर राजमहल में जाने लगी। पहरेदारों ने उसे रोका तो कानेने का अभिनय करके उसने पुतले पापियो ! तुमने वह महान अन्यते कर दिया। आज महारानी को नरकत था। इस पुतले की दूजा करने के पवात्र ही आज महारानी भोजन करती। अब मैं महारानी से जाकर तुम्हारी गिकायत कर्हनी कि तुम सबने पुतला भिराकर ढूर-कूर कर दिया। महारानी तुम सबके इसके लिए भया कठोर दण्ड देंगी। परिचारिका की बात सुनकर सबके प्राण सुख गये। अत्यन्त दयनीय स्वर में वे

५६]

कहने लगे—माता ! तुम्हें हमें बचा सकती हो। ग्रब कभी भी तुम्हारे साथ हम ऐसा बताव नहीं करें। इस बार हमें क्षमा कर दो। तब उसने कहा—ठीक है ठीक है। आगे से भेरे कामों में कभी विच्छ मत डालना। इस समय मैं कोई दूसरा पुतला ढूंढकर लाने का प्रयत्न करती हूँ। इतना कहकर वह अटपट बृहदीप्ति के लिए आगे चला गया। और ध्यानस्थ सुदर्शन को शमशान से कंधे पर उठाकर ले आयी। इस बार पहरेदारों ने कोई रैक टोक नहीं की और इस प्रकार वह सुदर्शन की रानी के महल में ले गयी।

सुदर्शन को देखकर रानी के आनन्द की सीमा न रही। कामातुर रानी ने अनेक प्रकार से अनुय विनय करते हुए कहा—अपने सौदर्य से कामदेव को भी लजाने वाले हैं न-र-रन ! तुमने भेरा चित्र हर लिया है। ग्रब कामात्मि से जलते हुए इस शरीर को आविन्दन-सुधा प्रदान करके शीतलता प्रदान करो। परन्तु धर्म-परायण सुदर्शन अचलत निश्चल बना रहा। तब रानी ने कामुक चेष्टाओं द्वारा उसे विचलित करना चाहा, पर जिनेन्द्र भगवान के ध्यान में निमग्न सुदर्शन रूचमात्र भी चलायमान नहीं हुआ। जिस प्रकार कल्पात काल की वायु से सुमेह पर्वत कम्पायमान नहीं होता, उसी प्रकार महापुरुषों का मन कभी भी चलायमान नहीं होता। सुदर्शन ने प्रतिज्ञा की कि यदि इस उपर्यास से बच जाऊंगा तो रिंगम्बर दीक्षा ग्रहण करेंगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वह आत्म ध्यानस्थ हो गया। ‘सन्तःकष्ट शतैश्चापि चारित्रान्न चतुर्त्य हो।’—सज्जन सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं पर अपने चारित्र से कभी भी विचलित नहीं होते।

अनेक कामोत्तेजक कुवेष्टाओं द्वारा भी जब रानी सुदर्शन को शील-रूपी पर्वत से भिराने में सफल नहीं हो सकी तो सब्द्या निराश हो। जाने के कारण उसमें बदले की भावना जाग उठी। उसने अपने शरीर को अपने ही नखों से जगह जगह खरोंच डाला, आभूषण तोड़ तोड़ कर, फेंक दिये, वस्त्र काढ डाले और जोर जोर से चिल्ला-चिल्ला कर रोते लगी कि—हाय इस दुराचारी ने मेरी क्या दशा कर दी है। इसे अपना भाई मानकर मैंने इसे महल में बुलवाया था, मैं नहीं जानती थी कि यह दुष्ट ऐसा बताव करेगा। दौड़ी दौड़ी। मुर्झे बचाओ मेरी रक्षा करो। इस पापी से मुक्त बचाओ, रानी के रुदन को सुनकर लौकर-चाकर, पहरेदार आदि दौड़ते हुए आये और सुदर्शन को पकड़ कर राजा के पास ले गये।

समस्त द्रुतान्त सुनकर राजा ने कोवावेश में आकर उसे मृत्यु-दण्ड दिया। राजा की आज्ञा से जल्लाद उसे शमशान में ले गये और उसे मारने के लिए उसके गले पर तलवार का प्रहार किया। पर आशवर्य ! परम आशवर्य ! उसके

[५७]

गले का स्पर्श करते ही तलवार मुण्डित पुण्डहार बन गयी। आकाश से पुष्प वृष्टि होने लगी। देव गण आकर सुदर्शन की स्तुति करते हुए कहने लगे— हे सुदर्शन ! तुम धन्य हो, सच्चे भक्त एवं सच्चे श्रावक हो। तुम्हारा ब्रह्मचर्य अखण्ड है।

समशान की इस घटना का वर्णन सुनकर राजा आश्चर्य चकित हो गया। वह तलाल वर्हा हो गया और सुदर्शन के चरणों में गिरकर क्षमा मार्गी। सारे नगर में सुदर्शन की महिमा का गुणागत होने लगा। यह सब अखण्ड ब्रह्मचर्य का प्रभाव था।

ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन कहाँ तक किया जाय ! शील संसार की सर्वोत्कृष्ट निधि है। यदि शील नष्ट हो गया तो समझना चाहिए कि सर्वस्व नष्ट हो गया। शील के प्रभाव से अपिन का जल हो जाता है, जल का स्थल हो जाता है, विष अमृत के रूप में परिणत हो जाता है, समुद्र गाय के खुर में रिथ्यत जल के समान लघुता की प्राप्त हो जाता है, सर्प पुण्डहार बन जाता है, विघ्नकारक पदार्थ मंगलकारक बन जाते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं और सिंह—व्याघ्र जैसे हिंसक पशु भी हिंसा का परित्याग कर देते हैं। शील व्रत के इस अद्युत महात्म्य को जानकर अनेक सकटों के आने पर भी सुग्रे वर्षते के समान अखण्ड रहकर शील व्रत का पालन करना चाहिए।

**शुचि भूमिगतं तोयं शुचि नारी परिव्रता
शुचिः धर्मपरो राजा, ब्रह्मचारी सदा शुचिः**

भूमि पर गिरा हुआ पानी शुद्ध होता है, पतिव्रता नारी पवित्र होती है, धर्म-परायण राजा पवित्र माना गया है और ब्रह्मचारी सदा पवित्र होता है। ब्रह्मचर्य व्रत-धारी के स्पर्श किये हुए जल से असाध्य रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

जिनदत्त और जिनदत्ता की कथा (विजय सेठ और विजया सेठानी)

एक दिन एक सेठ के घर में आहार के लिए एक मुनिराज आये। आहार के बाद मुनिराज ने धर्मोपदेश देते हुए ब्रह्मचर्य के महात्म्य का वर्णन किया। ब्रह्मचर्य की महिमा, सुनकर सेठ के पुत्र जिनदत्त ने शुक्ल-पक्ष का ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया।

उज्जयिनी नगरी के सेठ की पुत्री जिनदत्ता ने क्षण-पक्ष का ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा था। एक दूसरे की प्रतिज्ञा से अवधित जिनदत्त और जिनदत्ता संयोग से विवाह-सूत्र में बैठ गये। शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन विवाह करके

८८]

जिनदत्त नववधू को लेकर अपने घर लौट आये। जिनदत्ता शुंगार करके जब महल में गयी तो जिनदत्त ने कहा—प्राणवल्लभ ! मुझे शुक्ल पक्ष का ब्रह्मचर्य व्रत है, अतः आज से चौथे दिन ही मैं तुमसे प्रेसालाप कर सकूँगा। खिल व आधीर महोना, केवल दो या तीन ही दिनों की व्रत है। परिं की बात मुनकर जिनदत्ता ने कहा—प्राणगाम ! कैसा विचित्र संयोग है कि मुझे कृष्ण पक्ष का ब्रह्मचर्य का व्रत है। अतः आप दूसरा विवाह कर लें। मैं तो आब आर्यिका बनकर आत्म-कल्याण करूँगी। इस पर जिनदत्त ने कहा—देवि ! तुम स्वी होकर आत्म-कल्याण के लिये जब इतनी समुसुक हो तो मैं पुण्ड होकर भोपों के कीच में बूंदों फूसूँगा। हम दोनों घर में रहकर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे। पर यह बात बाहर नहीं फैलनी चाहिये। इस प्रकार दृढ़ संकल्प करके असिंधारा व्रत के समान कठोर ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करते हुए वे दोनों सुख और शान्ति-दूर्बंध घर में ही रहने लगे।

एक बार राजपुत्री को कुण्ठ रोग हो गया। बहुत उपचार किये गये पर कोई लाभ नहीं हुआ। एक दिन राजपुत्री को संयोग से एक मुनिराज के दर्शन हुए। अत्यन्त भक्ति-पूर्वक मुनिराज की बन्दना करके राजपुत्री ने अपने प्रसाद्य रोग से छुटकारा पाने का उपाय पूछा। करुणापरायण मुनिराज ने कहा—पुत्री ! तुम्हारे ही नगर में अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले जिनदत्त और जिनदत्ता हैं। यदि उनके हाथ का स्पर्श-जल छिड़का जाय तो तुम्हारा यह रोग दूर हो जायगा। यह सुनते ही राजपुत्री जिनदत्त के घर गयी। उसकी बात को सुनकर घर के सभी लोग अवाक् रह गये। जिनदत्त और जिनदत्ता के हाथ का स्पर्श-जल छिड़कते ही राजपुत्री का कुण्ठरोग दूर हो गया। आकाश से पुण्ड-वृष्टि होने लगी। अनंत में दोनों ने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली।

इसी प्रकार सीता, चन्दना, सुकुमाल, सुखानन्द आदि अनेक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत के धारक महापुरुष हुए हैं जिनकी महिमा का अमरनामे वर्णन मिलता है। इस ब्रह्मचर्य व्रत से मानव संसार-समुद्र से सहज ही पार हो जाता है।

हे आत्मन् ! शील व्रत की रक्षा के लिए हर संभव प्रयत्न करो। जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिए चारों ओर बाढ़ लगाई जाती है, उसी प्रकार शील व्रत की सुरक्षा के लिए अधिकालिक्षि ६ बातों का अवश्य ही पालन करना चाहिए। ये ६ बातें शील-रूपी खेत की सुरक्षा के लिए बाढ़ के समान हैं।

- (१) स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहना।
- (२) स्त्रियों के रूप और सौन्दर्य को विकार-भाव से नहीं देखना।
- (३) स्त्रियों से सम्भाषण नहीं करना।

- (४) पूर्व में भोजी हुई स्त्री का स्मरण व कथन नहीं करना ।
 (५) कामोदीपक पदार्थों का सेवन नहीं करना ।
 (६) स्त्रियों के शुगार-सम्बन्धी शास्त्रों के पठन-पाठन व श्रवण का त्याग करना ।
 (७) स्त्रियों की स्वाध्या तथा आसन पर न सींता बैठना ।
 (८) काम-भोग की कथा नहीं कहना और न सुनना ।
 (९) पूरा पेट भर भोजन नहीं करना ।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की महिला अपरम्पार है । महाभारत में कहा गया है—‘परं तत्सर्वधर्मेण्यस्तेन यान्ति परां गतिम्’—अथवा यह ब्रह्मचर्य सब धर्मों में सर्वश्रेष्ठ धर्म है और इससे परम पद की प्राप्ति होती है ।

‘शीलेन हि त्रयो लोकोः शक्या जेतुं न संशयः ।
 तन्हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥

शील के द्वारा तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की जा सकती है—इसमें कोई संदेह नहीं है । शीलवानों के लिए संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है ।

प्रतः प्रत्येक मानव को चाहिए कि शील व्रत धारण करके परम गति को प्राप्त करने का प्रयत्न करे । उत्तम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति प्रत्येक मानव का सुनिश्चित लक्ष्य होना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय

१. प्रमु भक्ति—ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए सर्व प्रथम कारण प्रमु भक्ति है । प्रमु भक्ति में लोट ही जाने से मानसिक द्विष्ट विचार उत्पन्न नहीं होते हैं । वीतराम प्रमु की भक्ति से मनस्त्रिय ही जाता है विषय वासना रुपी डाकिन मर जाती है । वार्तिक स्तोत्र से बाह्य द्विष्ट नहीं हो जाती है । प्रस्तरंग व्याध से मन शुद्ध और शांत हो जाता है । प्रमु भक्ति रुपी अमृत पान कर लेने पर विषय वासना कटु जहरवत् प्रतीत होती है । प्रमु भक्ति में रों हुए मन पर काम वासना का विचार नहीं सकता ।

२. ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने का दूसरा साधन है स्वाध्याय । स्वाध्याय से पांचों इन्द्रिय और मन वश में हो जाते हैं । हितोपदेय का ज्ञान होता है । पुण्य ताप का विचार आता है । जिसका मन स्वाध्याय से मुक्ति है उसके पवित्र मन को विषय वासना दुर्गम्यित नहीं कर सकती है । विषय वासनाओं को जीतने के लिए स्वाध्याय ही रामबाण है । स्वाध्याय से आत्मा और अनात्मा का भेद

ज्ञान होता है । ब्रह्मचर्य व्रत के नाश करने से क्या फल मिलता है और ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का क्या फल है इसकी जानकारी होती है । जिससे मानव स्वभावतः दूरे विचारों से दूर हट जाता है ।

कहा है कि “फालतू दिमाग शीतान का घर है” मन में कामेच्छा जागृत न हो इसलिए निरन्तर स्वाध्याय में लगे रहना चाहिये । स्वाध्याय से काम के सहचर मोह, ममता, लोभ, क्रोध, मान, प्रतिष्ठा, मिथ्याभिमान आदि नष्ट हो जाते हैं ।

३. रसना इन्द्रिय का और जननेन्द्रिय का घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसलिए खानपान की शुद्धि रखना चाहिये तथा कामोत्तेजक मिर्च, गर्म मसाले, खटाई, अधिक मिठाई, नशीली वस्तु, द्रूष, मलाई आदि पोषक पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये । ब्रह्माचारी को एक महिने में चार उपवास अवश्य करना चाहिये । प्रतिदिन भूख से कम खाना चाहिये जिससे शरीर निरोग रहेगा और मन शुद्ध होगा, ज्ञान की दृष्टि होगी ।

४. शूँगार त्वाग—शूँगार का त्याग करना चाहिये । मानव जितना सरल व सदै वेष भूषा में रहेगा, उतना मन सरल और शुद्ध रहेगा । व्योंगि बाहिरी वेष-भूषा का असर मन पर विशेष पड़ता है । तथा शूँगार रस के उपव्यास-नाटक, काव्य और काम से सम्बन्धित साहित्य भी नहीं पढ़ना चाहिये । व्योंगि अशील साहित्य में काम वासना जागृत करने के लिये सामग्री रहती हैं जिससे मन दूषित हो जाता है । स्त्री पुरुष को एक स्थान में नहीं रहना चाहिये । जिस चटाई पर या चौकी पर पुरुष बैठे हों उस पर विचारों को नहीं बैठना चाहिये । व्योंगि.....

दृष्ट कुम्भ समा नारी तप्ताङ्गार समः पुमान् ।

तस्मात् दृष्टं च बहिं च नैकवस्थापयेद् बुधः ॥

चृत के भरे वर्तन को प्रज्ञलित अग्नि के पास रख देने से जो स्वाभाविक परिणाम होगा वही त्री और पुरुष के साथ रहने से होगा । ऐसे दुष्परिणामों से बचने के लिये स्त्री पुरुषों को एक साथ बैठना, पढ़ना, रहना कभी नहीं करना चाहिये ब्रह्मचर्य का घात केवल शरीर से ही नहीं होता । मन, वचन, शरीर इन तीनों से होता है । इसलिये अपने को मुरक्षित रखने के लिये कुसंसाधन से बचना चाहिये । तथा रात में जलदी सोकर प्रातःकाल ब्रह्मसूक्त में उठ जाना चाहिये । दिनभर पढ़ने लिखने वा और घर सम्बन्धी इतना परिश्रम करना चाहिये कि जिससे सोने के साथ ही निद्रा आ जाए यदि किसी कारणावश निद्रा न आवेदी तो जागृत होने के साथ एमोकार मंत्र का जाप करने लग जाना चाहिये या संसार की असारता का नितवत करना चाहिये । ब्रह्मचर्य का पालन संयम, सादगी, समता, सत्यता और सदाचार से होता है । अवनता ध्येय विद्या प्राप्ति

का रखें लेकिन उपन्यास आदि काव्यों से हमेशा बचते रहना चाहिये। तथा रहे आदि के कोमल विस्तर पर नहीं सोना चाहिये। ब्रह्मचर्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय, सारे आचार विचारों में ब्रह्मचर्य प्रधान है। संसार की बेल को उखाड़ने के लिये यह तीक्ष्ण कुठार के समान है।

इच्छित फल को देने के लिये यह कल्पवृक्ष तुल्य है। मानव जीवन यदि कोई कीमत नहीं है। उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना गुलाब के फूल की ब्रह्मचर्य का पालन मानव पर्याय में ही होता है। इसलिये इस मानव पर्याय को सार्थक करने के लिये इसका पालन करना आवश्यक है। यह ब्रह्मचर्य दो प्रकार का है। एक तो सर्वथा स्त्रीमात्र का त्याग दूसरा परस्ती पर मुश्व का त्याग। यदि करना चाहिये।

आज के युग के मानव इस ब्रत का महत्व नहीं जानते इसलिये अपने मार्ग से चुत होते जा रहे हैं। व्यभिचार फैलता जा रहा है। इसलिये विधवा विवाह जैसे कुकर्म में प्रहृष्टि करते हैं। संयम सदाचार सदविचार से दूर होते जा रहे हैं। ब्रह्मचर्य के समान कोई तप, व्यान, मंत्र तथा तंत्र नहीं हैं। ब्रह्मचर्य ही सर्वांकृष्ट मंत्र है, यही तप है।

ब्रह्मचर्य-अस्त्यन्त सुसज्जित रथ है जिरामें यैठकर मानव स्वर्ग में अनायास पहुँच जाता है।

ब्रह्मचर्य-उत्तममवारण है जिससे हृदयस्थ वासना भेद दी जाती है।

ब्रह्मचर्य-मुक्तिरूप स्त्री को वश में करने के लिये वशीकरण मंत्र है।

ब्रह्मचर्य-पापस्ती रज को उखाड़ने के लिये प्रवण्ड पवन है।

ब्रह्मचर्य-चितित वस्तु को देने के लिये चितामणि है।

ब्रह्मचर्य-मनोमालिन्य रूपी मल को दूर करने के लिये मेघ की धार है।

ब्रह्मचर्य-शारीरिक शक्ति को बढ़ाने के लिये संजीवनी झौंटी है।

ब्रह्मचर्य-गजराज तुल्य है जो वासना रूपी केले के धंभ को उखाड़ कर केंक देता है।

६२]

इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से क्रूर देवता शांत हो जाते हैं। मंत्र विद्या शीघ्र सिद्ध हो जाती है। और, तेज और कौटि की वृद्धि होती है। निमेल ब्रह्मचर्य ब्रत के प्रभाव से क्रूर प्राणी अपनी कूरता छोड़ देते हैं। इसलिये अस्त्यन्त सावधानी से ब्रह्मचर्य ब्रत का पालन करना चाहिये।

एमोकार मंत्र के समान कोई मंत्र नहीं। शीतराग प्रभु के समान कोई प्रभु नहीं। सम्मेद शिखर के समान कोई तीर्थ नहीं। ब्रह्मचर्य के समान कोई ब्रत नहीं है। मुख की शोभा आँख से है। भोजन का स्वाद नमक से है। रात की शोभा चन्द्रमा से है। दिन की शोभा सूर्य से है। धन की शोभा दान से है। नगर की शोभा जलाशय से है। बचन की शोभा सत्य से है। कुल की शोभा पुत्र ने है। फूल की शोभा सुगन्धि से है। उसी प्रकार मानव की शोभा शील से है।

ब्रह्मचर्य धर्म

स्त्रीत्यक्त विजगत्पूज्यं ब्रह्मचर्यं गुणार्थवम् ।
पूजया परया भवत्या पूजयामि तदात्मये ॥

स्त्री त्याग करने से जो प्राप्त होता है वह तीनों लोकों में पूज्य है और युगों का समृद्ध है उस ब्रह्मचर्य की में उसकी प्राप्ति के लिए भक्तिरूपक बड़ी विश्रुति के साथ पूजा करता हूँ।

बंभवउ दुद्रु धारिज्जद वह फेडिज्जद विसयास एिह ।

तिय मुक्तिल्ल रत्तज मण करि मतउ तं जि भव रक्खेहु थिय ॥

दुर्यं श्रोर उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य को वारण करना चाहिये और विषयाशा का त्याग कर देना चाहिये। वह जीव स्त्री सुख में लीन मनूली हाथी से मदोरमत हो रहा है, इसलिये है भव्य ! तिथर होकर उस ब्रह्मचर्य ब्रत की रक्षा करो।

चित्तभूमि मयणु जि उपज्जद, तेण जि पीडित करइ अकज्जद ।
तिवहं सरीरइं रिएदइं सेवइ, सिय परणारि ए मूढउ येयइ ॥

कामदेव नियम से चित्तरूपी भूमि में उत्पन्न होता है। उससे पीडित होकर यह जीव अकार्य करता है। वह स्त्रियों के निन्द्य शरीरों का सेवन करता है और मूँह हुआ अपनी और दूसरे की स्त्री में भेद नहीं करता।

सिवज्ज रिएरइ महादुइ मुंजइ, जी हीणु जि बंभवउ मंजइ ।

इय जाणोपिणु मण वय काएं, बंभवरु पालहु अणुराएं ॥

[६३

जो हीन पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत को भञ्ज करता है वह नरक में पड़ता है और वहाँ के महान दुखों को भोगता है। यह जानकर मन, वचन और काय से अनुरागपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो।

तेरा सहु जि लबभइ भवपारउ बंभय विणु वउवज जि असारउ।
बंभव्य विणु कायकिसेसो, विहल सयल भासियइ जियेसो ॥

ब्रह्मचर्य से जीव संसार से पार होता है उसके बिना त्रात तप सब असार है। ब्रह्मचर्य के बिना जितने कामकलेश किये जाते हैं वे सब निष्कल हैं। ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

बाहिर फरसिदिय सुह रक्खउ, परम बंशु अभितरि पेक्खउ।
एर्ण उवाएं लबभइ सिव हह, इम रह्यु बहु भरणइ विणाययह ॥।

बाहर स्पर्शेन्द्रियजन्य सुख से अपने आत्मा की रक्षा करो और भीतर परम ब्रह्मचर्य को देखो। इस उपाय से ब्रह्मचर्य रूपी धर की प्राप्ति होती है। इस प्रकार रहस्य कवि बहुत विनम्र के साथ कहते हैं।

जिणायाह महिङजद मुरिय परमिजजइ दहलक्खणु पातियइशिर ।
भो वेमर्सीह सुय भव्य विणायजुय होलुव मण इह करहु थिर ॥

जिसकी जिनदेव ने महिमा गायी है और मुनिजन जिसे प्रणाम करते हैं। उस दशलक्षण धर्म का उत्तम प्रकार से पालन करो।

क्षमा पृथ्वी तल है क्योंकि पृथ्वी सहिणु है सारे जगत के भार को सहन करती है उस भूमि पर अनेक प्रकार के दृश्य फल फूलों से सुसज्जित होते हैं। उसी प्रकार इस क्षमा रूपी पृथ्वी पर दश धर्म रूपी दृश्य मुशोगित होता है इसलिये क्षमा को पृथ्वी की उपमा दी है। शोच धर्म जिसकी दुह जड़ है, सत्य रूपी स्कंध से युक्त है। शार्जव भाव रूपी शालाश्रों से वेष्टित होते हैं। मादेव भाव रूपी कोमल-२ पल्लवों से जो लहलहता है। जिसमें संदेश रूपी हरे-२ शोभनीय पत्ते लगे हुये हैं। चार प्रकार के त्याग रूपी परिमल से युक्त अनेक प्रकार के तप रूपी पुण्यों से व्याप्त हैं। जो शार्किचर्य धर्म रूपी मंजरी से युक्त है। जिसकी ब्रह्मचर्य रूपी छाया विस्तरित है। स्वर्ग और मोक्षमुरी का पथिक इस दृश्य के नीचे आश्रय लेकर परमानन्द का अनुग्रह करता है। मुनिराज रूपी पक्षियों से यह सदा सेवित है। यह धर्म रूपी दृश्य अत्यन्त शांति देने वाला है। हे आत्मन्! यदि तू सुख और शांति चाहता है तो विश्व वासना रूपी वातु से प्रेरित कषायरूपी अग्नि से

इस धर्म दृश्य की रक्षा कर। अन्यथा यह कषाय ज्वालायें तेरे धर्म दृश्य को भस्मसात् कर देंगी। यदि तू मोक्ष रूपी मधुर फल के आस्वादन का इच्छुक है तो समतालूपी जल से सींचकर इस दृश्य को दृढ़िगत करने की चेष्टा कर।

इस धर्म की महिमा अगम है—इसके वर्णन का अन्त नहीं आ सकता। इसलिये इसका मत, वचन काय से ध्यान करो।

॥ उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की जय ॥



अंतिम उपसंहार

इन धर्मों के बल से महान् पद की प्राप्ति होती है। आत्म ज्ञान का विकास होता है और अपुर्व शक्ति की प्राप्ति होती है।

इन दश धर्मों में सर्व प्रथम क्षमा का स्थान है। जिस प्रकार सर्व प्रकार की वस्तुओं की उत्तमता स्थान पृथ्वी है उसी प्रकार सर्व धर्मों की उत्तमता स्थान क्षमा है। शरीर के आठों ऋगों में उत्तमांग सिरका स्थान है उसी प्रकार सर्व धर्मों में उत्तम क्षमा है। सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देने पर भी यदि हृदय में क्षमा के अंकुर उत्पन्न नहीं हुए तो आत्म साधना प्रधूरी रहती है। क्षमा के प्रभाव से ही विरोधी के विरोध को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है।

इस क्षमा के बल पर ही गजकुमार मुनि ने विप्रकृत धोरोपसर्ग सहन किया था। इसी क्षमा के प्रभाव से अभय घोष, विचुच्चर, गुरुदत्त, चित्ताति धन्य मुनि चाणकायादि महामुनियों ने धोरोपसर्ग सहन कर धातिया अधातिया कर्मों का नाश कर अविनाशी पद प्राप्त किया।

इस क्षमा माता के दुर्ग पान से पुष्ट हुये पांच सौ मुनियों ने धानी में पेल देने पर भी परिणाम मलीन नहीं किये।

बुधभसेन मुनि ने इस क्षमा के बल पर धोरोपसर्ग सहन करके भी विरोधी के प्रति प्रतिहिसा के भाव उत्तम नहीं किये जिससे अनादिकालीन कर्म कालिमा का प्रक्षालन कर उत्तम पद प्राप्त किया—क्षमा के गुणों का वर्णन कहाँ तक किया जावे।

इस क्षमा धर्म के प्रभाव से मार्दव गुण प्रकट होता है जिससे मानव विनय-शील बनता है। उस विनय के प्रभाव से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं। विनय से विद्यायें भी शीघ्र सिद्ध हो जाती हैं।

दोणाचार्य की पत्थर की मूर्ति बनाकर विनय करने वाले भील ने शब्द भेदी बाण विद्यां सिद्ध की। विनय से विरोध भाव नष्ट हो जाते हैं। आत्म शक्ति विनय के प्रभाव से ही प्राप्त होती है।

विनय भाव से मायाचार दूर हो जाता है, सरल स्वभाव का उदय होता है। उस सरलता से परम शान्ति की प्राप्ति होती है। सरल स्वभावी पांडवों को राज्य की प्राप्ति हुई थी। मायाचारी कौरव दुर्गति में गये।

सरलता से लोभ कषाय शांत हो जाती है। संतोष धर्म की प्राप्ति होती है। संतोषी की देव भी पूजा करते हैं।

संतोष के कारण ही जयकुमार की देवों ने पूजा की। संतोष के कारण ही मानव उत्तम बनता है, मानविक आकुलता का अभाव संतोष के प्रभाव से होता है। संतोष के बिना ही यह प्राणी संसार में भ्रमण करता है।

संतोष धर्म के प्रसाद से सत्य की प्राप्ति होती है, क्योंकि सत्य की कारण क्षमा अवृत्त वनता है, अभाव क्षमा में स्वयमेव सत्य की प्राप्ति होती है। इसलिए संतोष कारण ही है और सत्य उसका कार्य है।

सत्य के प्रभाव से अग्नि का जल होता है जल का थल होता है।

सत्य के प्रभाव से उत्तम वचन शक्ति प्राप्त होती है। सत्य के प्रसाद से धनदेव सेठ को विजय प्राप्त हुई। सत्यवादी की देव पूजा करते हैं।

सत्य के प्रभाव से संयम की प्राप्ति होती है। जिस संयम से दुर्गति नष्ट होती है जो इन्द्रिय और मनो विजयी होता है वह देवों से पूजित होता है। जैसे वारिधण, अभयकुमार, धन्वन्तरी संयम के प्रसाद से पूजित हुए थे। संयम का विकास-तप के कारण अनेक छटिदिव्य उत्पन्न होती हैं। उपवास नामक तप के प्रभाव से सेठ पुत्र देव होकर नागकुमार हुआ—जो महान् पराक्रमी था और अन्त में कम्भा का नाश कर भीक्ष प्राप्त किया।

रोहिणी नामक तप करने वाली लक्ष्मीमती शोक-सताप के नाम को भी नहीं ज्ञानती थी। उसी तप के प्रभाव से उपार्जित युग्म के प्रभाव से सर्व का अमूर्ख हार बन गया था। इसलिए जैनशास्त्रों में कृतकावली, मुक्तावली, पल्लोपम मेवर्षीक नदीविकर, पंक्ति, रोहिणी, नाम पंचमी, सोलह कारण, दशलक्षण, रत्नत्रय नमोकार मंत्र, अक्षर निर्विद्या आदि अनेक प्रकार के तपों का वर्णन है जिनके प्रभाव से जीवों ने उत्तम पद प्राप्त किया है।

तप की भावना से ही त्याग धर्म की जागृति होती है।

त्याग के बल से अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है।

त्याग धर्म से ही गानव चार प्रकार का धान और पूजा कर सकता है जिस

त्याग के प्रभाव से वंचाशर्य प्राप्त होते हैं जो उत्तम पात्र तीर्थकरों को दान देते हैं वह उसी भव में या दो तीन भव में मोक्ष में चले जाते हैं।

त्याग के कारण ही श्रेयांशु राजा भरत चक्रवर्ती के द्वारा पूजित हुआ था और ग्रहण करने के कारण विष्णुकरण्व नामक सेठ और लुधक सेठ के समान दुर्गति में जाते हैं।

त्याग से परिणामों में निर्मलता आती है जैसे कर्ज उत्तर जाने से मानव को परम आङ्गूष्ठ होता है उसी प्रकार त्याग से परम आङ्गूष्ठ की प्राप्ति होती है। त्याग से ही आकिञ्चन्य धर्म होता है।

जिस आकिञ्चन्य के प्रभाव से मानव तीन लोक का अधिपति होता है।

अनितम सर्व धर्मों का फल ब्रह्मचर्य है।

वह ब्रह्मचर्य ही मानव का महान् गुण है जिसके प्रभाव से सीता के लिये अरिन का जल हुआ था।

चन्दना अनंतमति, राजमति, द्रोपदी आदि अनेक मातृत्व वनितायें तथा जयकुमार सुदर्शन आदि महापुरुष इसी के प्रभाव से जगत में पूज्य हुये। इस व्रत की महिमा अगम्य है।

निर्मल ब्रह्मचर्य के प्रभाव से कूर देवता भी शाश्त्र ही जाते हैं।

